अनुसंधान के मूलतत्त्व

[अनुसधान-विदग्ध-गोष्ठी के भाषण]

सम्पादक

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ

आगरा विश्वविद्यालय

आगरा

विषय-सूची

विषय पृष्ठ सं०

प्राक्कथन

मुझे यह पुस्तक प्रस्तुत करते बहुत प्रसन्नता हो रही है, क्योकि इसके द्वारा हम एक वास्तविक अभाव की पूर्ति करने का प्रयास कर रहे हैं।

यह विद्यापीठ प्रमुखत एक शोध-सस्था है। इसमें शोध-सम्बन्धी कितनी ही सुविधाएँ उपलब्ध हैं। अनुसधान के योग्य एक उपयोगी पुस्तकालय है। हस्तलिखित ग्रन्थो का आगार भी समर्थ हो चला है। लोक-साहित्य का सग्रहालय भी समृद्धि की ओर अग्रसर है। हस्तलेखो को पढने के लिए रीडर, टेपरेकार्डर तथा ध्वनि-विज्ञान-प्रयोगशाला के यान्त्रिक साधन भी प्रस्तुत हैं। इन सबके रहते हुए भी अनेक कठिनाइयो का सामना अनुसधित्सुओ को करना पडता है। कुछ कठिनाइयाँ तो आरभ में ही खडी हो जाती हैं। अनुसधान का कार्य नये अनुसधित्सुओ के लिए कुछ अटपटा-सा होता है। उनके सामने अनेक प्रश्न खडे हो जाते हैं। किस विषय का अनुसधान करें, कैसे करें, क्या तैयारियाँ करें आदि। ये जिज्ञासाएँ लेकर बार-बार वे अपने निर्देशक के पास जाते हैं और उनके तरह तरह के समाधान उन्हें मिलते हैं। वास्तविक बात यह है कि आधुनिक युग में अनुसधान की कला का अच्छा विकास हो चला है। उसके बिना जाने हमारे अनुसधित्सुओ का बहुत समय व्यर्थ नष्ट होता है। वे अपने अनुसधान को ठीक दिशा में नही बढा पाते। अत अपने काम को और भी जटिल तथा दूभर बना लेते हैं। वे आवश्यक साधनो से युक्त नही हो पाते, क्योकि जानते ही नही कि किन साधनो की कहाँ आवश्यकता होगी। क्या लिखा जाय, कैसे लिखा जाय, यह भी नही जानते। अत हमारे विद्यापीठ जैसी शोध-सस्था का कर्तव्य हो जाना है कि वह अनुसधान की समस्त प्रणालियाँ अपने अनुसधित्सुओ को भली प्रकार समझा दे।

इस निमित्त हमने एक अनुसधान-विदग्ध-गोष्ठी का आयोजन किया था, जो पिछले साल १६ से २६ अगस्त तक चली। इसका उद्‌घाटन हमारे विश्वविद्यालय के उप-कुलपति आदरणीय श्री कालकाप्रसादजी भटनागर ने किया था। इसमें अनुसधित्सुओ की कठिनाइयो को सामने रखते हुए अनुसधानोपयोगी विविध विषयो पर प्रकाश डाला गया।

अनुसधान एक प्रकार की साधना है। इसके लिए पूर्ण आत्म-समर्पण किये बिना कार्य-सिद्धि सम्भव नही है। इस तल्लीनता के साथ ही साथ अनुसधान की विभिन्न प्रणालियो की भी जानकारी आवश्यक है। इसीलिए विदग्ध-गोष्ठी में हमने अनुसधान की सभी आधुनिकतम पद्धतियो और उपकरणो की विस्तृत विवेचना का आयोजन किया था। हमारे विद्यापीठ के प्राध्यापको तथा सभी सहयोगियो ने इस सम्बन्ध में अपने अनुभवो और अध्ययनो के आधार पर समुचित प्रकाश डाला, जिनके महत्त्व से प्रभावित होकर हमारे बहुतेरे अनुसधित्सुओ तथा सहकर्मियो ने विशेष अनुरोध किया कि इन भाषणों को मुद्रित करा दिया जाय तो इनकी उपलब्धियो से सभी लाभ उठायेंगे।

यह तो आरम्भ में ही निश्चय किया गया था कि इस गोष्ठी का समस्त विवरण "भारतीय साहित्य" में प्रकाशित कराया जाय किन्तु उपर्युक्त अनुरोध की प्रेरणा से यह प्रतीत हुआ कि इस गोष्ठी के भाषणों को पृथक पुस्तकाकार प्रकाशित करा लेना भी अधिक उपयोगी होगा। इससे विद्यापीठ के वर्तमान छात्रों के अतिरिक्त अनुसंधान की परम्परा में आने वाले भावी अनुसंधित्सुओं को भी इससे लाभ होगा। हिन्दी में इस विषय पर वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत की गई यह पहली ही पुस्तक है। दिल्ली विश्वविद्यालय से 'अनुसंधान का स्वरूप' नाम से जो एक छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित की है, उसमें अनुसंधान के सामान्य तत्वों पर सामान्यरूपेण विचार प्रस्तुत किये गये हैं। वह पुस्तक भी अपने स्थान पर उपयोगी है। किन्तु उसमें अनुसंधान-सम्बन्धी वैज्ञानिक प्रक्रिया को विस्तारपूर्वक स्थान नहीं दिया जा सका था।

हमारा विश्वास है कि यह प्रकाशन इस अभाव की पूर्ति का साधन होगा और इसके द्वारा विद्यापीठ के अनुसंधित्सु ही नहीं वरन् अनुसंधान-अनुशीलन में लगे हुए सभी लोग लाभान्वित होंगे।

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ
आगरा विश्वविद्यालय आगरा।
१ सितम्बर १९५९ ई०

विश्वनाथ प्रसाद
संचालक

उपक्रमणिका

अपनी स्नातकोत्तरीय परीक्षाएँ समाप्त कर लेने के पश्चात् प्राय अनुसन्धित्सु विद्यार्थी पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालयो मे प्रयत्नशील होते हैं। फलत उन्हें अपनी रुचि अथवा अपने निर्देशक की रुचि के अनुसार निर्वाचित विषय के अनुसार कम से कम दो वर्ष का समय लगाकर शोध-प्रबध पूर्ण करना पडता है। विषय-निर्वाचन में एक बात मुख्य रूप से यह भी ध्यान में रखी जाती है कि जो विषय अनुसधित्सु लेना चाहता है, उस पर किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा कार्य तो नही हो रहा है। अपवादस्वरूप कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि सयोगवश एक ही विषय पर दो-दो विश्वविद्यालयो में कार्य कराया जा रहा है। परन्तु उनमें भी दृष्टिकोण का अन्तर तो सर्वथा सभव है। इस सबध में अनुसधित्सु को विश्वविद्यालयो द्वारा प्रकाशित वे विवरणिकाएँ देखनी चाहिए, जिन्हें वे प्रति वर्ष इसी उद्देश्य से प्रकाशित करते हैं कि विषय-निर्वाचन में पुनरावृत्ति नही हो। कुछ दिन हुए "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" (ता० ११-४-५८) में अनुसन्धान के लिए निर्धारित विषयो की एक सूची प्रकाशित हुई थी। इसके अतिरिक्त "नागरी प्रचारिणी पत्रिका", "भारतीय अनुशीलन" आदि पत्रिकाओ में भी समय-समय पर ऐसी सूचियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। मद्रास विश्वविद्यालय ने भी एक ऐसा बुलेटिन प्रकाशित किया है, जिसमें प्राय बहुत से विश्वविद्यालयो के शोध-प्रबधों के शीर्षको का निर्देश है। अनुसधित्सु को अपने विषय के निर्वाचन के लिए इन्हें अवश्य ही देखना चाहिए।

हिन्दी भाषा और साहित्य का कालानुसार विभाजन तथा उसकी प्रमुख प्रवृत्तियो और धाराओं का विवेचन भी शोध का एक मुख्य अग है। इस सबध में इधर कई प्रामाणिक ग्रथ प्रकाशित हुए हैं, जैसे, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का "हिन्दी साहित्य का आदि काल" तथा "हिन्दी साहित्य की भूमिका", डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय की "आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका", डा० धीरेन्द्र वर्मा का "ब्रजभाषा का इतिहास", डा० बाबूराम सक्सेना की "इवोल्यूशन ऑव अवधी", डा० श्रीकृष्णलाल का "आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास" डा० विश्वनाथ प्रसाद की 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव मानभूम", डा० उदय नारायण तिवारी का "भोजपुरी भाषा और साहित्य", डा० शिव प्रसाद सिंह की "सूर पूर्व ब्रज भाषा" आदि।

इसके अतिरिक्त मध्ययुगीन साहित्य और रीति काल के कवियो एव उनके ग्रथो पर अलग-अलग काम करने के लिए काशी नागरी प्रचारिणी द्वारा प्रकाशित "हस्तलिखित ग्रथो की खोज रिपोर्टें" (१८ भाग), "राजस्थान में हस्तलिखित ग्रथो की खोज" (४ भाग) बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित "खोज-विवरण" (२ भाग), महावीर दिगम्बर जैन सस्थान, जयपुर द्वारा प्रकाशित "हस्तलिखित ग्रथ सूची (३ भाग), "भारतीय साहित्य" आदि प्रकाशनों को देखना चाहिए। सूफी साहित्य तथा मुस्लिम सन्तो पर अनुसधान करने वालो को मोटे तौर पर भारत में सूफियो के सम्प्रदाय

और उनकी मान्यताएँ आदि जानने के लिए परशुराम चतुर्वेदी द्वारा लिखित 'सूफी काव्य-संग्रह' डा सरला शुक्ल कृत जायसी के परवर्ती सूफी कवि आदि ग्रंथों को देखना चाहिए। निर्गुण-परम्परा के सन्तों और उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों के लिए डा के एन फर्कुहर की आउटलाइन आव इंडियन रेलिजन्स रेलिजस मूवमेन्ट्स आव इंडिया' ए के दत्त कृत 'संप्रदाय परशुराम चतुर्वेदी की उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा हेस्टिंग्स की 'एनसाइक्लोपीडिया आव रेलिजन एण्ड एथिक्स' आदि पुस्तकें देखनी चाहिए। इनके अतिरिक्त और भी विभिन्न सम्प्रदायों पर ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं जो तत्सम्बन्धी विषयों की जानकारी के लिए उपयोगी होंगे।

पाठानुसंधान का कार्य करने वाले अनुसंधित्सुओं को चाहिए कि वे अपने लिए ग्रंथ निर्वाचन करने से पहले पाठानुसंधान की वैज्ञानिक पद्धति वाले ग्रंथों को देखें जिनमें "सुकथंकर-अभिनन्दन ग्रंथ" डा कत्रे विरचित 'इन्ट्रोडक्शन टु इंडियन टैक्सचुअल क्रिटिसिज्म' तथा हिस्टोरिकल लिंग्विस्टिक्स आदि मुख्य हैं। पाठानुसंधान के लिए यह आवश्यक है कि एक आदर्श प्रति होनी चाहिए जो वैज्ञानिक दृष्टि से प्रामाणिक हो तथा उसकी सहायता के लिए अधिक से अधिक प्रतियाँ रहनी चाहिए। इस विषय पर इधर डा माताप्रसाद डा वासुदेवशरण अग्रवाल तथा डा पारसनाथ तिवारी द्वारा कबीर तुलसी और जायसी पर विशेष प्रामाणिक रूप से काम हुआ है। उनके द्वारा सम्पादित संस्करणों को भी देखना चाहिए।

अपनी रुचि और विषय से सबंधित सामग्री देख कर और उस पर भलीभाँति विचार कर लेने के बाद ही प्रबन्ध की रूप-रेखा तैयार करनी चाहिए। उसमें पहिले मुख्य विषय से संबंधित मोटे-मोटे विभाग करने चाहिए, तदनन्तर उस अध्याय को स्पष्ट करने के लिए छोटे-छोटे उप विभाग करने चाहिए। इससे सामग्री-चयन करने और उसे क्रमानुसार व्यवस्थित करने में सुविधा होती है। उदाहरण के लिए कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि शोध प्रबन्ध में प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने के लिए दिया गया प्रमाण-स्वरूप उद्धरण ही इतना हो जाय कि वह स्वयं एक टिप्पणी बन जाय। अत अतिरेक से बचने के लिए और अपने कथन की पुष्टि के लिए उद्धृत प्रमाण को विस्तार में न ग्रहण कर उसका सूक्ष्म संकेत ही पर्याप्त रहेगा।

जिन ग्रंथों से सामग्री का संकलन किया जाय उनका पूरा विवरण [ग्रंथ का नाम लेखक का नाम यदि ग्रंथ मुद्रित है तो उसका पूरा परिचय-यथा प्रकाशन-संवत् प्रकाशक एवं प्रेस का उल्लेख संस्करण की चर्चा आदि] और यदि हस्तलेख है तो उसके प्राप्ति स्थान उसकी लिपि एवं रचनाकाल आदि का अवश्य उल्लेख कर देना चाहिए। इससे प्रबन्ध उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। अच्छा हो यदि उद्धृत ग्रंथों की कार्ड सूची साथ ही साथ तैयार होती रहे।

ग्रंथों के उद्धरण आदि इस प्रकार लिए जाने चाहिए कि उनमें अपने विषय को स्पष्ट करने की पूरी क्षमता रहे किसी प्रकार की तोड़-मरोड़ की गुंजाइश न रहे। अनुसन्धान-कार्य में आरम्भ से ही इस प्रकार की सावधानता बरतनी चाहिए।

—संपादक

डा० विश्वनाथ प्रसाद

अनुसंधान के सिद्धान्त

अनुसधान की प्रवृत्ति वस्तुत एक सहज प्रवृत्ति है। ज्ञान की उपासना जब से चली तब से उसके साथ ही अनुसधान की प्रवृत्ति भी चली। ज्ञान एक प्रकार से अनुसधान का पर्याय या प्रतिफल है। ये जो प्रकृति के विभिन्न रूप मनुष्य के सामने प्रकट हुए और उनकी प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में उसके मन में जो जिज्ञासाएँ उत्पन्न हुई, उन्ही से अनुसधान की प्रवृत्ति का सम्बन्ध है।

हिन्दी में तीन शब्द 'रिसर्च' के लिए प्रयुक्त होते हैं। एक तो अनुसधान, दूसरा गवेषणा और एक तीसरा शब्द प्रयुक्त होता है शोध। अनुसधान, गवेषणा और शोध ये तीनों शब्द मिलकर जो भाव व्यक्त करते हैं, मैं समझता हूँ, कि उससे अनुसधान का स्वरूप कई दृष्टियो से हमारे सामने आ जाता है। सधान के पहले लगा हुआ अनु उपसर्ग प्राय पश्चात् के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार यदि किसी ने प्रारभ में कोई खोज की हो, किसी सत्य का अनुभव किया हो और उसे प्रकाश में भी लाया हो, परन्तु वह सत्य जटिलता या पुरातनता के कारण तिरोहित हो गया हो और फिर उस सत्य के उद्घाटन या विवेचन का प्रयत्न अन्य कोई पीछे से करे तो हम इस प्रयास को अनुसधान कह सकते हैं।

दूसरा शब्द गवेषणा एक रूपकात्मक शब्द है। जगलो में गौओं के गले में बँधी हुई घटियो की ध्वनि सुनकर उनकी जो खोज की जाती है, शब्दगत अर्थ में वही गवेषणा है। किन्तु अर्थविस्तार के नियम से अब इसका प्रयोग सामान्य रूप से अन्य विषयों की खोज के लिए भी होने लगा है। जैसे किसी गूढ विषय के किसी पक्ष का कही से कुछ अन्दाज हमें मिल रहा हो और हम उसकी खोज में प्रवृत्त हों। किसी विषय का कुछ सकेत पाकर उसके अन्तर्निहित मूल स्रोतो तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील होना अनुसधान की एक विशेष प्रवृत्ति है। तीसरा शब्द शोध शुध् धातु से व्युत्पन्न है। इस अर्थ में उसका सम्बन्ध वास्तविकता के निर्णय से जोडा जा सकता है। किसी विषय में क्या सच है, क्या सच नही है, इसका विश्लेषण करके एक परिणाम पर पहुँचने के लिए हम जो प्रयत्न करते है वह शोध ही है।

इन तीनों अर्थों को एक साथ ग्रहण करके विचार करें तो अनुसंधान या रिसर्च के स्वरूप को हम बहुत कुछ अंशों में ग्रहण कर सकेंगे। अनुसंधान पहले के किसी उपलब्ध किन्तु लुप्तप्राय सत्य को फिर प्राप्त करने की चेष्टा करता है, गवेषणा किसी सुदूर गुहानिहित सत्य की ध्वनि को खोजने का अथवा संकेतमात्र के सहारे किसी विषय के मूल स्रोतों तक पहुँचने का प्रयास करती है और शोध सत्यासत्य का विधिवत् निरीक्षण-परीक्षण करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का व्यापार है।

लुप्त सत्य को पकड़ने की चेष्टा के सम्बन्ध में तुलसीदास जी के कथन 'लुप्त भए सद्ग्रंथ' की ओर ध्यान जाता है तो एक सहज जिज्ञासा होती है कि ये सद्ग्रंथ कौन से थे। यदि कोई व्यक्ति इसी जिज्ञासा की तृप्ति के लिए प्रयास करे तो निश्चय ही उसके कार्य को अनुसंधान माना जा सकता है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या ऐसा प्रयास भी अनुसंधान कहा जा सकता है जिसमें ऐसी चीज खोजने का प्रयत्न करें जो पहले कभी खोजी न गई हो, और प्रकाश में न आ सकी हो? वस्तुतः यह भी अनुसंधान का विषय है। और इसे उसका एक चौथा लक्षण कहा जा सकता है। अंग्रेजी के रिसर्च शब्द में जो पूर्वप्रत्यय या उपसर्ग 'रि' है वह आत्यन्तिकता या सम्पूर्णता का ही द्योतक है। किसी तथ्य का अधिक से अधिक सूक्ष्मता के साथ अन्वेषण करने को 'रिसर्च' या 'डिसकवरी' कहते हैं। इस प्रकार अनुसंधान के अन्तर्गत किसी ऐसे सत्य के सम्यक् उद्घाटन का प्रयत्न भी समाविष्ट है जिसकी ओर पहले किसी का ध्यान नहीं गया हो।

पहले जब लिखित ग्रंथों के रूप में ज्ञान बहुत अधिक सुलभ नहीं था तब अपने यहाँ और पाश्चात्य जगत् में भी प्रायः शास्त्रार्थ या वाद-प्रतिवाद के रूप से ही अनुसंधान का काम किया जाता था। विद्यार्थियों को मौखिक तर्कों के द्वारा विद्वानों के सामने अपने तथ्य का प्रतिपादन करना पड़ता था। यूरोप में करीब १६वीं १७वीं १८वीं शताब्दी तक कुछ अंशों में यह परम्परा चलती रही। अपने यहाँ यह शास्त्रार्थों का क्रम १९वीं शताब्दी तथा २ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल तक चलता रहा है। पंडितों के दो या तीन पक्ष आपस में विवाद करके किसी निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करते थे। परन्तु उसमें यह देखा गया कि ज्ञान बहुत सीमित हो जाता था। तर्कों और तर्क-पद्धतियों में पुरानी लीक ही पीटी जाती थी। परिणाम की दृष्टि से भी इनका प्रयोग अत्यन्त सीमित और संकुचित था क्योंकि इस प्रकार के सभी वाद विवाद अन्त में केवल वाक्यों की पटुता और चतुरता पर जाकर समाप्त हो जाते थे। दोनों पक्षों की ओर से शास्त्रार्थ का अन्त 'अबुद्ध कि वक्तव्यम्' इसी परस्पराक्रान्त कोलाहल में होता था।

यूरोप में जब लोगों ने देखा कि इस परिपाटी से काम नहीं चलता है और जब लिखने के साथ-साथ मुद्रण-कला और वैज्ञानिक दृष्टि का विकास हुआ तब यह आवश्यक समझा गया कि अनुसंधान लिखित प्रबंध के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए। इसी को 'थीसिस' कहा गया। जब विश्वविद्यालयों में अनुसंधान का कार्य आरंभ हुआ तो थीसिस या शोध प्रबंध का महत्त्व और भी बढ़ गया। उसमें लिखित रूप में अपने पक्ष का स्पष्टीकरण और समर्थन करना पड़ता था। इस प्रकार वाद-विवाद के

क्रम ने लिखित शोध-प्रबन्ध का रूप ग्रहण किया । फिर तो यह विचार भी करना पडा कि शोध-प्रबन्ध का लिखित रूप कैसा हो, स्वाध्याय या विचारविनिमय द्वारा अर्जित ज्ञान का विवरण या रिपोर्ट किस रूप मे प्रस्तुत की जाय । इस प्रकार का विवाद करते-करते शोध-प्रबन्ध लिखने की कला का भी विकास हुआ । इस तरह अनुसधान और शोध-प्रबन्ध या थीसिस इन दोनो में घनिष्ठ सबध जुडा ।

शास्त्रार्थो और वाद-विवादो की उल्लिखित गतानुगतिकता की प्रतिक्रिया के रूप मे शोध-प्रबधो की परम्परा ने एक सिद्धान्त यह स्थापित किया कि अनुसधान का विषय नया हो और उसका प्रतिपादन पहले से ही किसी अन्य के द्वारा नही किया जा चुका हो । किसी पूर्व सिद्ध बात को ही सामने रख कर पुराने तर्कों के ही द्वारा उसका प्रतिपादन और समर्थन इस सिद्धान्त के अनुसार निरर्थक माना गया । जो पहले ही सिद्ध किया जा चुका है उसको फिर क्या सिद्ध करना । 'सिद्धसाधने कृत प्रयास' सिद्ध करने के लिए तो कोई नया तथ्य, कोई नई सामग्री चाहिए ।

अत अनुसधित्सु के सामने पहली और सबसे बडी समस्या आती है नयी सामग्री की । विद्यार्थी कौन सी सामग्री ले कि वह स्वय अपने भीतर यह अनुभव कर सके और दूसरे को भी यह बता सके कि वह किसी ऐसे सत्य के अन्वेषण मे लगा है जो पहले से स्पष्ट नही है । अतएव अनुसधान के सम्बन्ध मे पहला प्रश्न हमारे सामने आता है किसी नयी समस्या का । जब समस्या हमारे सामने खडी हो जाय तब समझना चाहिए कि हम अनुसधान के उस द्वार पर आ पहुँचे जिसके भीतर प्रवेश पाने का हमें प्रयत्न करना है । अनुसधान के विषय-निर्वाचन का प्रश्न इसी से सम्बन्धित है ।

समस्या की उपलब्धि हो जाने के बाद अनुसधित्सु को उसकी सीमा निर्धारित करनी पडती है । विषय का क्षेत्र यदि उचित रूप से सीमित नही किया गया, उसका दायरा यदि बहुत बिखरा हुआ और विस्तीर्ण छोड दिया गया तो कार्य कठिन हो जाता है और सफलता बहुत कुछ सन्दिग्ध हो जाती है । इसके विपरीत यदि सीमा का यथावत् निर्धारण कर लिया गया तो कार्य सुगम हो जाता है और अनुसधायक अपनी समस्या को अधिक स्पष्टता के साथ देख सकता है । जैसे रोशनी का फोकस ठीक कर देने से उसका तेज बढ जाता है वैसे ही विषय को समुचित रूप से सीमित कर देने से उसके प्रभाव और प्रेषण बढ जाते हें । उसमें एकाग्रता तथा किसी निश्चित विचार-बिन्दु की ओर केन्द्रीकरण के साधन और आधार सरलता से मिल जाते हें । उदाहरणार्थ कालिदास के काव्य पर काम करने की अपेक्षा कालिदास के प्रबन्ध काव्य अथवा कालिदास की उपमाएँ अथवा कालिदास का प्रकृति-चित्रण—विषय के ऐसे पक्षो पर अधिक सुगमता से काम किया जा सकता है । हिन्दी गद्य की अपेक्षा हिन्दी का भारतेन्दुकालीन गद्य या द्विवेदीकालीन गद्य पर अधिक गहराई के साथ विचार किया जा सकता है । वस्तुत किसी विषय के बहुतेरे पक्षो के लेने के बजाय केवल कुछ पक्षो को लेना अधिक वाछनीय होता है, क्योंकि वे अधिक आसानी से सँभाल में आ सकते हैं । यह स्मरण रखना चाहिए कि अनुसधान का आदर्श है निर्वाचित विषय का अधिक से अधिक

गंभीरता, पूर्णता और सूक्ष्मता के साथ विवेचन। इस उद्देश्य की पूर्ति सीमा निर्धारण के बिना असम्भव है। परन्तु किसी विषय के सीमा निर्धारण के अनेक तरीके हो सकते हैं। यहाँ पर किस प्रकार से सीमा निर्धारण किया जाय यह एक ऐसा पहलू है जिस के लिए पर्याप्त अनुभव और विवेक की आवश्यकता होती है और जिसमें योग्य निर्देशक की सहायता से बहुत लाभ उठाया जा सकता है।

सीमा निर्धारण के बाद अनुसंधित्सु को सामग्री के संग्रह-संचयन, संगृहीत सामग्री के निरीक्षण-परीक्षण और फिर उपलब्ध तथ्यों के संघटन के कार्य में संलग्न होना पड़ता है। तथ्यों का संघटन शोध-कार्य का बहुत महत्वपूर्ण अंग है और इसके लिए पर्याप्त अभ्यास की अपेक्षा होती है। अनुसंधान की अवस्था में पहुँचने पर अनुसंधित्सु को अपना सार-असार-विवेक अथवा गुण-स्वभाव का विकास करके सार को ग्रहण करने और निःसार या थोथे को उड़ा देने का प्रयास करना पड़ता है। फिर उसके बाद ही वह सही तथ्यों को सुचारु रूप से व्यवस्थित कर सकता है।

अनुसंधान का चौथा पद या [illegible] का सम्बन्ध <u>अभिव्यक्ति</u> के प्रश्न से है। अनुसंधान की उपलब्धियों को प्रस्तुत करने में सरसरी अखबारी तरीका, साहित्य के रागात्मक रूप तथा भावात्मक निराधार कल्पना और आलंकारिकता की सजावटों के माया-जाल से बहुत सावधानी के साथ अपनी रक्षा करनी पड़ती है। अपने कथन के एक एक शब्द को तथ्यों के आधार, विवरण और विवेचन के प्रत्येक अंश को बार-बार तौलना पड़ता है। विचार और विवेचन के अनुसार अनुसंधान की रचना एक खास भाषा एवं शैली द्वारा* जिस पर अनुसंधान की सफलता अधिक नहीं तो कम से कम पचास प्रतिशत निश्चय ही अवलम्बित रहती है।

सुनाई देते है, कुछ नही और कुछ स्वर अन्य स्वरो की अपेक्षा उलझे मे जाते हैं। टेलिफोन के ऐसे ध्वनिगत विकारो के कारणो पर भी डा० फ्राइ ने विचार किया है। सिनेमा अथवा व्याख्यान-कक्ष सदृश भवनो के निर्माण में डा० फ्राइ के अनुसधान से लाभ उठाया जाय या टेलिफोन के सुधार मे उनके निष्कर्ष उपयोगी सिद्ध हो तो उनका अनुसधान निस्सन्देह प्रयोगात्मक तथा व्यावहारिक अनुसधान के अन्तर्गत आ जायगा। अन्यथा उसे केवल जिज्ञासा की शान्ति के ज्ञान के साधन के रूप मे विशुद्ध अनुसधान के अन्तर्गत रखा जायगा।

इस प्रकार उपयुक्त वर्गीकरण केवल उद्देश्यो की भिन्नता पर प्रकाश डालता है, अनुसधान के विविध प्रकारो को प्रकट नही करता।

कुछ विद्वानो ने अनुसधान के ये भेद बताये है —

१—वर्णनात्मक अनुसधान २—ऐतिहासिक अनुसधान ३—पूरक अनुसधान ४—दार्शनिक अनुसधान ५—व्यावहारिक अनुसधान ६—मनोवैज्ञानिक अनुसधान ७—रचनात्मक अनुसधान और ८—शैक्षणिक जिसको उन्होने दूसरे शब्दो में पाठ्य-क्रम अनुसधान बतलाया है।

यह वर्गीकरण भी एक दृष्टि से भ्रामक ही प्रतीत होता है, क्योकि मूलभूत रूप में इतने भेद हो, ऐसी सभावना नही। ऐसे तो हम गिनाना चाहें तो दस-पाँच भेद और भी बढा दे सकते हैं। मेरी राय में अनुसधान के स्वरूप को समझने के लिए उसके तीन स्पष्ट और मूलभूत वर्ग कर लेना सुविधाजनक है। पहले भेद को हम शास्त्रीय कह सकते है। इसमें किसी विषय का विवेचन शास्त्रीय ढग से किया जाता है। 'यहाँ 'शास्त्रीय' शब्द का अर्थ केवल भारतीय शास्त्रो तक सीमित न समझा जाय। जो निश्चित सिद्धान्त, मान्यताएँ, मानदड तथा मूल्याकन के आधार हमें परम्परा से मिले हैं, चाहे वह परम्परा पूर्वीय हो या पाश्चात्य, उनको सामने रख कर किसी विषय का विवेचन करना शास्त्रीय अनुसधान है। इसे मान्यता-परक अनुसधान भी कहा जा सकता है। दूसरे प्रकार के अनुसधान वर्णनात्मक तथा प्रयोगात्मक अनुसधान हैं। ये अवेक्षणो अथवा प्रयोगों पर आधारित रहते हैं और इनकी सामग्रियो को क्षेत्रीय निरीक्षण-परीक्षण के द्वारा अथवा प्रयोगशालाओं में विधिवत् जाँच लने के बाद ही हम एक निश्चित रूप देते है। तीसरी कोटि में वे अनुसधान आते है जिनको ऐतिहासिक अनुसधान कहा जा सकता है। इनमें किसी विषय को लेकर उसके विकास-क्रम की खोज की जाती है और उसकी विकास परम्परा की जो कडियाँ अभी तक प्राप्त नही हो सकी है उनको फिर जोडने की चेष्टा की जाती है।

अनुसधान का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है—अनुसधान की पात्रता। अनुसधान की पात्रता के दो स्तर होते है। एक तो वह स्तर है जिसमे हम इस बात की जाँच करते हैं कि किसी विद्यार्थी में अनुसधान की योग्यता है अथवा नही, और प्रारम्भ में हम उसमें योग्यता जगाने की ही कोशिश करते है। एम० ए० के स्तर पर हमारा यही प्रयत्न रहता है कि विद्यार्थी में अनुसधान की योग्यता का विकास हो सके। एम० ए०

से कुछ ऊँचा स्तर है एम. लिट. का। परन्तु उसमें भी उद्देश्य यही रहता है। एम. ए. अथवा एम. लिट्. में जो शोध प्रबन्ध रखे जाते हैं वह इसी दृष्टि से रखे जाते हैं कि विद्यार्थियों को अनुसंधान की योग्यता प्राप्त हो सके। उसमें जो जाँच की जाती है वह इसी दृष्टि से की जाती है कि विद्यार्थी में अनुसंधान की योग्यता का विकास हुआ अथवा नहीं। और वह योग्यता किस बात में है? यह योग्यता वस्तुतः इस बात में देखी जाती है कि वे किसी वास्तविक समस्या को अपने सामने रख सकते हैं अथवा नहीं उसे यथावत् रूप में देख सकते हैं या नहीं और उस समस्या के लिए सामग्री का संग्रह कर सकते हैं अथवा नहीं।

अनुसंधान की पात्रता के इस पहले स्तर में सफलता पाने के बाद उसके दूसरे स्तर की स्थिति आती है। यहाँ हम अनुसंधित्सु के भीतर वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण की योग्यता उत्पन्न करते हैं। विश्लेषण की वैज्ञानिकता अनुसंधान की आवश्यक शर्त है। यह वैज्ञानिकता क्या है इसके बारे में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत दिये हैं। यहाँ मैं इस वैज्ञानिकता की कुछ आधारभूत बातों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करूँगा।

विचार की सामान्य प्रणाली और वैज्ञानिक प्रणाली में पहला भेद इस बात का है कि वैज्ञानिक प्रणाली में हम ज्ञान को व्यवस्थित करके देखते हैं। बिखरा हुआ अव्यवस्थित ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिक ज्ञान में एक व्यवस्था एक सुसंबद्धता होनी चाहिए। और इसीलिए उसमें निगमन और वर्गीकरण का महत्त्व हो जाता है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि वैज्ञानिक ज्ञान पर्यवेक्षण और प्रमाण के आधार पर खड़ा हो। तीसरी बात यह है कि वैज्ञानिक ढंग से विचार करते समय हमें सत्य का व्यक्तिनिष्ठ स्वरूप नहीं ग्रहण करना चाहिए। व्यक्ति-निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ ज्ञान को ही विज्ञान कहा जाता है। साहित्य के विद्यार्थी प्रायः व्यक्ति सापेक्ष ज्ञान में ही आनन्द लेते हैं। हमारे भाव हमारे भीतर की अनुभूतियाँ और सुख-दुख की प्रवृत्तियाँ इस वैयक्तिक सत्य का रस देती हैं। विज्ञान के क्षेत्र में यह संभव नहीं है। किसी विषय पर, अथवा जीवन के किसी पक्ष पर व्यक्ति-सापेक्ष दृष्टि पर अपनी रुचि-अरुचियों के सहित जब हम अपनी दृष्टि डालते हैं तो उसके कई रूप हमारे सामने खड़े हो जाते हैं। जितनी दृष्टियाँ होती हैं उतने ही रंग रूप हमारे सम्मुख आ जाते हैं। हमारी कल्पनाएँ अत्यन्त तीव्र और रागात्मक हो जाती हैं। और जितने व्यक्ति होते हैं सत्य के उतने ही स्वरूप विषय-वस्तुओं के विभिन्न रूप-रूपों में सामने आ जाते हैं। इसके विपरीत विज्ञान के क्षेत्र में चाहे मैं विचार करूँ चाहे आप विचार करें चाहे और कोई विचार करे सब एक ही नतीजे पर पहुँचेंगे। यदि एक अनुसंधायक के लिए पानी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन इन दो तत्त्वों का समन्वय है तो दूसरे अनुसंधित्सु को भी उसका विश्लेषण इसी रूप में प्राप्त होगा।

विज्ञान का चौथा लक्षण यह है कि उसके निष्कर्ष कभी अन्तिम नहीं माने जाते। यदि और सामग्री और तथ्य के आधार हमें प्राप्त हों तो संभव है कि हम ज्ञान के क्षेत्र में और आगे बढ़ सकें। भविष्य के विषय में प्रगाढ़ विश्वास लेकर वैज्ञानिक अपने कार्य में प्रवृत्त होता है। अतीत के प्रति अन्ध श्रद्धा विज्ञान को कभी स्वीकार नहीं है। वह

पूर्वाजित ज्ञान का परीक्षण और सचालन करते हुए उसके अग्रिम विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। इन्ही कुछ आधारभूति बातो से वैज्ञानिक दृष्टि की रचना होती है और इनके आधार पर प्राप्त निष्कर्ष निश्चय ही प्रामाणिक होते हैं।

प्रामाणिकता के लिए अनुसधान में हम कभी-कभी ऐसी प्रवृत्तियो मे भी फँस जाते हैं जो वैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित कही जायँगी। स्वत असिद्ध या अप्रामाणिक उद्धारणो का अवलम्बन इसी बात का उदाहरण है। कुछ विद्यार्थी दुनियाँ-भर के उद्धरण बटोर लेते है और कुछ ऐसे लोगो के उद्धरण भी देने लगते हैं जिनका ज्ञान बहुत कम लोगो को होगा। ऐसे उद्धरण-प्रिय अनुसधित्सु किसी भी ऐसी कृति को नही छोडते जो कही, किसी प्रकार उन्हें दिख जाय और उसका तनिक भी सबध उनके कार्य से हो। परन्तु अप्रामाणिक पुस्तको और लेखको का उल्लेख प्रामाणिकता में योग नही देता। यो आवश्यकतानुसार उद्धरण देना बुरा नही है। उद्धरण बीच में भी दिए जाते हैं, निबन्ध के नीचे पाद-टिप्पणियो में भी दिये जाते हैं और निबन्ध के अन्त मे भी दिये जाते हैं। परन्तु जो कथन अभी स्वत साध्य हो अथवा जो लेखक अभी स्वत प्रमाण रूप में गृहीत नही हुए हों उनको प्रमाण के रूप में उद्धृत करके कोई विशेष प्रभाव नही उत्पन्न किया जा सकता। प्रमाण देने में उद्देश्य होता है कि हमने जो अनुसधान किया है और जिस बात की खोज की है वह दूसरे लोगो के द्वारा भी पुष्ट होती है, इसी दृष्टि से प्रमाण दिये जा सकते हैं, यह दिखाने के लिए नही कि हमने क्या-क्या पढा है।

वस्तुत शोध-प्रबन्धो मे देखा यह जाता है कि विद्यार्थी ने स्वय क्या काम किया है। यदि उसके निबन्ध का सबध प्रयोगशाला में किए हुए कार्य से है तो उसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके निष्कर्ष उसके स्वयकृत प्रयोगो पर कहाँ तक निर्भर है। और यदि उसका निबन्ध तथ्यपरक है तो इस बात का विचार किया जाता है कि उसमें अनुसधित्सु की अपनी स्वतत्र देन क्या है।

न्यायशास्त्र में अनुमान को भी प्रमाण का एक साधन माना गया है, परन्तु अनुमान के विषय में और सावधानी से काम लेना पडता है। अनुमान की परिपाटी में जाने पर उसके साधनो और आधारो के ठोसपन की जाँच कर लेनी चाहिए, नही तो अच्छा है कि कोरे अनुमान के द्वारा हम किसी सत्य का पोषण न करें, प्रयोग और अवेक्षण इन्ही दोनो को अपना प्रधान साधन बनाएँ। अवेक्षण की अनेक पद्धतियाँ हैं। इनमें तुलनात्मक पद्धति भी एक उपयोगी पद्धति है। तथ्यो का सकलन, उनका वर्गीकरण और इस वर्गीकरण के क्रम में बीच-बीच में जो तुलनीय हो उनकी आवश्यक तुलनाएँ ये तुलनात्मक पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

अनुसधान के विषय में एक और प्रश्न हमारे सामने खडा होता है पूर्णता और अपूर्णता का। मैं कह चुका हूँ कि अनुसधान की वैज्ञानिक दृष्टि का ही यह तकाजा है कि अनुसधायक इस बात में कट्टरता न प्रदर्शित करे कि जो कुछ वह कह रहा है बस वही अन्तिम और परिपूर्ण सत्य है। वह बराबर इस बात का विश्वास करे कि फिर आगे भी उस विषय को बढाया जा सकता है। और अधिक विचार, अधिक साधना करके वह स्वय भी उपलब्ध ज्ञान की परिधि को बढा सकता है तथा दूसरे भी उसके विषय के कई पहलुओ को लेकर उसे

आगे बढ़ा सकते हैं। इसलिए अनुसंधान की पूर्णता केवल इसी अर्थ में समझी जा सकती है कि प्रस्तुत अनुसंधान का स्तर ऊँचा हो और स्तर की ऊँचाई की माप का एकमात्र पैमाना यह है कि कोई अनुसंधायक अपनी चेष्टाओं द्वारा ज्ञान की सीमा को कहाँ तक बढ़ा सका और फिर उसमें ऐसे क्या सूत्र उसने जोड़े जिनको लेकर वह स्वयं अथवा बाद के समय दूसरे सहकर्मी उसके ज्ञान के विविध पक्षों को आगे बढ़ा सकें। अधिकांश विश्वविद्यालयों में शोध प्रबन्ध की जाँच के जो मानदंड रखे गये हैं उनका सार यही है कि कोई शोध प्रबन्ध अपने विषय के ज्ञान की दिशा में और विशिष्ट योगदान करता है या नहीं ज्ञान को कुछ भी आगे बढ़ाता है या नहीं। और यह ज्ञान कैसे बढ़ता है इसकी जाँच दो बातों से करनी पड़ती है। या तो नये तथ्यों का अन्वेषण किया गया हो या अनुसंधायक ने अपनी स्वतन्त्र समालोचना शक्ति का परिचय दिया हो। अनुसंधान की सफलता का एक आधार नये तथ्य की उपलब्धि के बजाय किसी ज्ञात तथ्य की अभिनव व्याख्या को भी प्रायः स्वीकार किया जाता है। अनुसंधित्सु की समालोचना-शक्ति और विवेक-बुद्धि के ये दो मुख्य प्रमाण हैं। इनमें से कम से कम एक का परिचय उसकी कृति में अवश्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध की रूप-सज्जा उसकी साहित्यिक परिवेश और उसकी प्रस्तुत की शैली भी एक अत्यन्त आवश्यक अंग है।

अनुसंधान में जहाँ तक संभव हो कटुता से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। यह कटुता तथ्य-सम्बन्धी भी हो सकती है और केवल अभिव्यक्ति-संबंधी भी। इन दोनों प्रकार की कटुताओं से बचकर संयत भाषा और सतुलित विचारों को ही शोध प्रबन्ध में स्थान मिलना चाहिये। कहा जा सकता है कि अनुसंधायक तो सत्य का अन्वेषण करते हैं उन्हें इस बात की क्या परवाह कि उनकी बात किसी अन्य को प्रिय लगती है या अप्रिय। शोध-ग्रंथों को प्रस्तुत करने में भी यदि यही देखा जाय कि लेखक की बात लोगों को प्रिय लगे तब तो उपन्यास कविता तथा शोध प्रबन्ध में कोई भेद ही नहीं रहा। मैं मानता हूँ कि शोधकर्ता लोकप्रियता के लिये लालायित नहीं रहता वह निर्विकल्प रूप से तथ्य का उद्घाटन करता है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होना चाहिए कि लोगों को व्यर्थ ही अपने विरुद्ध खड़ा कर लिया जाय और अपने से भिन्न मत वालों को अपना शत्रु बना लिया जाय। हमारे यहाँ का आदर्श तो यह है कि सत्य भी कहो और प्रिय भी कहो। सत्य और प्रिय में विरोध नहीं होना चाहिए। जहाँ विरोध हो वहाँ संभल जाना चाहिए, वरन् यहाँ तक कहा गया है कि वहाँ मौन हो जाना चाहिए। यह ठीक है कि कभी-कभी अप्रिय सत्य का भी उद्घाटन करना पड़ता है। शोध प्रबन्ध के लेखक को भी उससे डरना नहीं चाहिए। परन्तु ऐसी स्थिति में उससे कम से कम इस बात का तकाजा किया जा सकता है कि वह जिस अप्रिय सत्य का उद्घाटन कर रहा है वह पुष्ट आधारों पर खड़ा हो और उसकी अभिव्यक्ति किसी अंश में भी अशिष्ट नहीं हो। प्रामाणिकता और दृढ़ता का अर्थ अशिष्टता या दुराग्रह कदापि नहीं हो सकता।

एक विषय और है जिसकी मीमांसा अनुसंधान में की जानी चाहिए। यह विषय क्षेत्रीय कार्य से सम्बद्ध है। अनुसंधान के लिए प्रायः क्षेत्रीय कार्य का भी आधार ग्रहण करना पड़ता है। जैसे समाजविज्ञान भाषाविज्ञान अथवा लोक साहित्य में क्षेत्रीय कार्य करना पड़ता

है। क्षेत्रीय कार्य के लिये भी कुछ आवश्यकताएँ हैं। इसमें देखना पडता है कि कार्यकर्ता में क्षेत्रीय कार्य करने के लिए क्या योग्यता है। योग्यता देख चुकने पर यह भी विचार करना पडता है कि वह क्या अधिकार लेकर जायगा। विद्यार्थी होने के अतिरिक्त क्षेत्रीय कार्यकर्ता के पास कुछ अधिकार होने चाहिए, ये अधिकार चाहे किसी सस्था की ओर से प्राप्त हो चाहे सरकार की ओर से। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय कार्य में द्रव्य की भी आवश्यकता पडती है। बिना द्रव्य के क्षेत्रीय कार्य करना कठिन होता है। पैसा चाहे अपना हो चाहे सरकार का, चाहे किसी सस्था का, उसकी जरूरत तो पडती ही है। भाषा, लोकसाहित्य, अर्थशास्त्र, अथवा समाजशास्त्र-सम्बन्धी विपयो पर अनुसधान करनेवाले क्षेत्रीय कार्यकर्ता को जनता का समय और सहयोग लेना पडता है। इस कार्य में सदा अनुनय-विनय करने अथवा परोपकार की प्रेरणा देने से ही काम नही चलता। क्षेत्रीय कार्यकर्ता को जिन लोगो से सम्बन्ध स्थापित करना पडता है उन लोगों के समय का भी कुछ मोल होता है। वे काम-काज मे लगे हुए होते हैं। सभव है, अपना समय योही नष्ट करना उन्हें नही रुचे। एकाध बार कोई एक दो घण्टे दे सकता है, पर रोज साथ बैठने से और दुनियाँ भर की बातें पूछने से प्रत्येक व्यक्ति तग आ जायगा। जिनसे भी क्षेत्रीय कार्यकर्त्ता को एक दिन का समय दे दिया, उसकी यदि वह कोई बैठा-निठल्ला नही हुआ तो, उस दिन की रोजी गई। अत उसके लिए पैसे का प्रबन्ध करना आवश्यक हो जाता है।

क्षेत्रीय कार्य की एक दूसरी समस्या है—सहकारियों और केन्द्रो का चुनाव। सहकारी उत्साही, योग्य तथा कई होने चाहिए। केन्द्र चुनने में गडबडी हो गई तो काम ठिकाने से आगे नही बढता। कहाँ-कहाँ से किन-किन लोगो से सामग्री सगृहीत की जाय, इस विपय में भी विचार करना पडता है। कैसे लोगो का साक्ष्य लें, यह विपय के अनुसार निश्चित करना पडता है। विपय के अनुसार साक्ष्य की प्रणालियाँ भी वदल जाती हैं। इसके वाद लोगो से पूछने के लिए प्रश्नावली तैयार करनी होती है। इन्ही प्रश्नो पर क्षेत्रीय कार्य की सफलता निर्भर है। लेकिन इन प्रश्नो का निश्चित सिद्धान्त नही वताया जा सकता। प्रश्नावली का प्रारूप इस बात पर निर्भर करेगा कि किस प्रयोजन और उद्देश्य से हम अनुसधान कर रहे हैं। यदि अभीष्ट उद्देश्य के अनुमार प्रश्नावली तैयार हुई तब तो सफलता निश्चित है, अन्यथा यदि प्रश्नावली उद्देश्य के असम्बद्ध और बिखरी हुई तब प्रयास निष्फल जाता है। इसलिए प्रश्नावली तैयार करने में बहुत सोचना-विचारना पडता है।

वस्तुत अनुसधान के लिए जो क्षेत्रीय कार्य किया जाता है उसकी दीक्षा किसी अच्छे गुरु से ले लेनी चाहिए। जिसको स्वय क्षेत्रीय कार्य का कुछ अनुभव हो उसके साथ-साथ काम करके हम इस दिशा में सफलता प्राप्त कर सकते हे। पहले के क्षेत्रीय कार्यों के प्रकाशित प्रतिवेदनो के अध्ययन से हम अपने अनुभव को बढा सकते है।

सच पूछिए तो अनुसधान का विपय ही ऐसा है जिसमें गुरु-शिष्य का सवध बहुत ही आवश्यक हो जाता है। इसीलिए विश्वविद्यालयो मे शोध-प्रवन्ध के लिए एक निर्देशक की आवश्यकता नियमत स्थिर कर दी गई है। परन्तु निर्देशक और अनुसधित्सु यदि एक स्थान मे न हो तो उनमें सम्पर्क नही रह पाता। यह कहने में अतिशयोक्ति नही है कि

कुछ परीक्षा-परक विश्वविद्यालयों में उनकी भेंट कभी-कभी तो केवल दो ही बार होती है—पहली निर्देशक की स्वीकृति के समय निर्देशक के हस्ताक्षर कराने के लिए और दूसरी शोध प्रबन्ध तैयार हो जाने के बाद उसे प्रस्तुत करने के लिए। फिर भी अनुसंधान तो होते ही रहते हैं उपाधियाँ भी मिला करती हैं लेकिन ऐसी स्थिति में अनुसंधान का स्तर क्या होगा इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। अपने हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ में हमने इसीलिए निर्देशकों और अनुसंधित्सुओं के बीच निरन्तर सम्पर्क की व्यवस्था रखी है। वास्तव में अनुसंधान का स्तर तभी ऊपर उठ सकता है जब गुरु-शिष्य दोनों मिलकर किसी सत्य के अन्वेषण में लगें। स्वाध्याय और पारस्परिक विचार-विनिमय अनुसंधान के नितान्त आवश्यक साधन हैं।

डॉ० सत्येन्द्र

अनुसंधान के सामान्य तत्त्व*

आज का विषय अनुसधान के सिद्धान्तो से सम्बन्ध रखता है। हम अनुसधान करते है, शोध करते है, गवेषणा करते है, क्या उसके सिद्धान्त है, या हो सकते है ? इस पर हमें विचार करना था। जैसा कि अभी हमारे विद्वान् वक्ता—हमारे सचालक महोदय ने आरम्भ में बतलाया था कि वस्तुत अनुसधान या गवेषणा एक ऐसी वस्तु है जिसके सम्बन्ध में कोई शाश्वत सिद्धान्त बनाकर नही चला जा सकता। और प्रत्येक व्यक्ति को, जो अनुसधान में प्रवृत्त होता है अपनी मनोवृत्ति, अपनी तपस्या और साधना के अनुसार और अपने सस्कारो के अनुसार अपने अनुसधान के लिए सिद्धान्त प्रस्तुत करने पडते है। यही कारण है कि एक व्यक्ति एक प्रकार की वस्तु का अनुसधान करता है, दूसरा व्यक्ति दूसरे प्रकार की वस्तु का अनुसधान करता है। और यह कभी सभव नही है कि एक व्यक्ति जिस वस्तु का अनुसधान कर रहा है, दूसरा व्यक्ति भी उसी प्रकार से उस वस्तु का अनुसधान प्रस्तुत कर सके, क्योकि जो व्यतिगत भेद है वह मूल प्रवृत्ति के अन्दर प्रस्तुत है। और यही पर उसकी व्यक्ति-निष्ठता होती है अन्यथा अनुसधान का सारा क्षेत्र व्यक्तिपरक न रह कर वस्तुपरक हो उठता है। ऐसा होते हुए भी कुछ सामान्य वस्तुएँ या तत्व या बातें ऐसी है कि जिन का ध्यान रखना प्रत्येक अनुसधित्सु के लिए आवश्यक होता है। उन पर अभी पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। लेकिन मै एक प्रकार से उनको दुहराता हुआ सभवत उसमें कुछ अपनी भी बात कह दू। वह यह कि अनुसधान के विषय का और क्षेत्र का चुनाव, अनुसधान के लिए बहुत आवश्यक है। यद्यपि यह ठीक है कि जो प्रकृत अनुसधित्सु होते है, उनमें स्वभावत ही किसी बात को जानने की प्रबल जिज्ञासा पैदा होती है। फलत वे उसका अनुसधान करने के लिए आगे बढते है। ऐसे प्रकृत अनुसधाताओ के सामने तो विषय अपने आप प्रस्तुत हो जाते है। यह भी सच है कि उनके कार्य को हम "एकेडैमिक रिसर्च वर्क" नही कह सकते। वह तो सहज ही अनुसधान में प्रवृत्त होते है। न्यूटन किसी यूनिवर्सिटी की डिग्री प्राप्त करने के लिए अथवा किसी आर्गनाइज्ड या व्यवस्थित सघ के आधीन रिसर्च करने के लिए प्रवृत्त नही हुआ था। प्राकृतिक व्यापार को देखकर उसके मनमें एक अदम्य जिज्ञासा पैदा हुई जिससे विकल

*मूलभाषण विद्यापीठ के सचालक डा० विश्वनाथ प्रसाद का था। वह अन्यत्र निबध के रूप में दिया गया है।

हो वह उस व्यापार के रहस्य को उद्घाटित करने के लिए प्रयत्नशील हुआ और उसके पीछे पड़कर उसने उस फल को प्राप्त कर लिया। यह प्रवृत्ति मनुष्य का स्वभाव नहीं जायगी। यदि इस मनुष्य प्रवृत्ति को मैं समझता हूँ गुड़ मिल जाय तो बहुत ठीक न गुड़ मिले तो भी वह मिगरा ही अथवा स्वयं अपना गुड़ बनकर आगे बढ़ता है और आगे गुड़ पैदा कर लिया करता है। हम लोग यहाँ बैठकर रिसर्च की बात करते हैं तो उस प्रकार की रिसर्च की बात नहीं करते हैं। हम तो एक व्यवस्थित रिसर्च की बात कर रहे हैं। निश्चय ही हम उन मनुष्य अनुसंधान करने वाले व्यक्तियों अथवा गवेषणा करने वाले व्यक्तियों के मार्गों को देखकर आज अनुसंधान का एक स्वरूप खड़ा कर सकते हैं। उन्हीं के आधार पर व्यवस्थित प्रणाली निर्धारित करके यह कहा जा सकता है कि अनुसंधान में भी एक सिद्धांत हो सकता है। अत विषय के निर्वाचन में हम आज उतने स्वतन्त्र नहीं (किसी अनुसंधान विषय के लिए हमको एक व्यवस्था के अन्तर्गत रिसर्च प्रस्तुत करनी होती है। उस व्यवस्था में हमको निर्देशक की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे अनुभवी व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जो उस अनुसंधान के क्षेत्र से परिचित हैं और बता सकते हैं कि कौनसा विषय कहाँ-कहाँ पर किस-किस रूप में प्रस्तुत हो रहा है और उस या उन विषयों में अब कितना क्षेत्र अनुसंधान योग्य शेष है। उस क्षेत्र को लेकर भी यदि आप प्रवृत्त हों तो आप संभवत या तो कुछ नई बातें निकाल कर दे सकेंगे या कुछ सर्वथैव नयी शैली में प्रस्तुत कर सकेंगे एक नये रूप में नयी व्यवस्था सहित उसको दे सकेंगे। हम जो विषय चुनें उसके संबंध में यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि या तो हम क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से चुनें। एक चीज को हम लें और उसके विस्तार के साथ पूरे क्षेत्र में जितना भी उससे सम्बन्धित हमारा क्षेत्र है उसको देख। इस प्रकार से क्षेत्र का विस्तार, और फिर क्षेत्र का एक सकोच दोनों ही चीजें हमें ध्यान में रखने की आवश्यकता होती है। कितने ही जो विज्ञ अनुसंधानकर्ता हैं वे बतलाते हैं कि जहाँ तक हो सके क्षेत्र छोटा होना चाहिए। छोटा क्षेत्र चुनने का यह अभिप्राय नहीं है कि उस क्षेत्र में हमें कुछ करने के लिए नहीं है। छोटे क्षेत्र में गहराई भी अधिक मिलती है और विस्तार भी हो सकता है। उदाहरण के लिए हम किसी एक लोक कथा को लें। तो उसका क्षेत्र छोटा तो हो गया क्योंकि हमने एक ही लोक-कथा ली है। सभी या बहुत सी लोक कथाएँ नहीं लीं। पर इस छोटे क्षेत्र में गहराई भी हो सकती है और विस्तार भी। गहराई की दृष्टि से हम लोककथा के अनुसंधान में—

१—उसके निर्मायक तत्वों का विश्लेषण

२—उन तत्वों के स्रोतों और

३—उनके मर्मों का उद्घाटन

४—उनसे साथ संलग्न लोक-मानस

५—उनकी पृष्ठभूमि के साथ विश्वास और लोक दर्शन तथा

६—उनमें कथा-नत्व आदि का समावेश कर सकते हैं। यों गहरे से गहरे उतरते जा सकते हैं। लोक कथा में मनुष्य और मनुष्य के इतिहास को भी खोज सकते हैं। पर दूसरा

मार्ग अनुसधान का विस्तारवादी भी हो सकता है। जैसे वेनफे ने कुछ कहानियो की एक स्थान से दूसरे पर जाने की यात्रा का अनुसधान किया, आप उस एक लोक-कथा के रूप और रूपान्तरो का क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से अनुसधान कर सकते हैं, और समस्त विश्व की लोकवार्ता में उस 'कथा' के स्वरूप का उद्घाटन कर सकते हैं। इस प्रकार कुछ छोटे या सीमित विषयो का ऐसा क्षेत्र-विस्तार भी हो सकता है। इसके लिए आपको बहुत यात्रा करनी पडेगी। और यहाँ से होकर वहाँ तक पूरे क्षेत्र में आपको यात्रा करनी पडेगी। उस यात्रा के लिए कितने ही प्रकार के साधनो का हम लोग उपयोग कर सकते हैं, जैसे अभी सकेत किया गया कि हम प्राइमरी स्कूलो के अध्यापको का, सरकारी कर्मचारियो का और अपने जो अन्य भी साधन है उनका, अनेक प्रकारो से उपयोग कर सकते हैं। वहाँ के रहने वालो से सपर्क स्थापित कर के हम उनका उपयोग कर सकते हैं। लेकिन यह छोटा क्षेत्र है, फिर भी विस्तृत क्षेत्र है। लेकिन कभी-कभी यह छोटा क्षेत्र गहरा क्षेत्र भी हो सकता है। लोक कथा के गहरे अध्ययन की बात ऊपर बताई जा चुकी है। किसी एक कवि की रचना को लेकर उसके कई क्षेत्र बनाये जा सकते हैं जैसे—तुलसीदास को लिया। तुलसीदास के अदर किसी ने उनकी रूपक प्रणाली को लिया। सूरदास जी को लिया, उनकी रूपक प्रणाली को लिया या उनकी प्रतीक प्रणाली को लिया। उनके वात्सल्य को लिया। इसके लिए हमें इतना विशेष बाहर जाने की जरूरत नही होती। परन्तु सूरदास के अथवा तुलसीदास के मानस में जितने गहरे हम उतर सकते हैं, उतना पूरी गहराई में हमें उतरने की आवश्यकता होगी। इसका भी जैसा कि विविध रूपो में बताया गया, स्तर होता है, हम इसी एक चीज को अनेक स्तरो पर, ऐतिहासिक आधार पर, दार्शनिक आधार पर, आध्यात्मिक आधार पर, भाषा के अवयवो के आधार पर, साहित्यिक मूल्यो के आधार पर हम इनका विचार प्रस्तुत कर सकते है। अत पहिली बात जो हमारे सामने आती है वह है विषय का चुनाव। जहाँ तक हो सके वह इस दृष्टि से होना चाहिए कि वह छोटा तो हो लेकिन उसको हम परिपूर्णता के साथ प्रस्तुत कर सकें। यह ठीक है जैसा कि अभी बतलाया गया कि ससार में परिपूर्णता का कोई दावा नही कर सकता और कोई भी अनुसधित्सु और कोई भी विद्वान यह नही कह सकता कि उसका ज्ञान परिपूर्ण है, अतिम है। लेकिन वह यह कह सकता है कि अपनी चेष्टाभर उसने उसमें परिपूर्णता लाने की चेष्टा की है। परिपूर्णता जिसे कहते हैं उसमें वह सामर्थ्यानुरूप पूर्णता आनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जो विषय उसने लिया है, उसे यह बताना चाहिये कि उस का अध्ययन उसके पूर्व किसी ने किया या नही, किया तो उसका स्वरूप कब कब क्या क्या रहा। दूसरे शब्दो में उसके अध्ययन के इतिहास का उसे पता होना चाहिए, तथा वह बतला सकता है कि वह जो कुछ कहने जा रहा है, वह कहाँ तक नयी देन है, या न्यू कन्ट्रीब्युशन है। उसके इतिहास के ज्ञान के साथ उसके पूरे क्षेत्र का भी उसे ज्ञान होना चाहिए। यानी अपने विषय के भौगोलिक क्षेत्र का भी परिचय उसे होना चाहिये। यह परिचय भी यथासभव प्रामाणिक होना चाहिये। यहाँ तक की बातो को दुहरायें तो कह सकते हैं कि पहली बात है, विषय। विषय जहाँ तक हो सके, सीमित हो, सकुचित हो, लेकिन इतना उसका क्षेत्र हो, कि हमें

उस पर काम करने के लिए, उसमें कोई नई बात प्राप्त करने के लिए पूर्ण अवकाश हो। दूसरी बात है परिपूर्णता की। मैं समझता हूँ सिद्धांतत: यह आवश्यक होता है कि जो जिस विषय पर अनुसंधान करने जा रहा हो उसको उसके इतिहास का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, और उसमें उसकी पूरी पैठ तथा निष्ठा होनी चाहिए। उसे अपनी ओर से यह कहने में संकोच न हो कि मैंने उसको अपनी शक्ति भर पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। तीसरी बात सिद्धांतत: यह है कि उक्त बातों के साथ साथ जहाँ तक उससे बन पड़ा है वहाँ तक उसने प्रतिपादन को वस्तुनिष्ठ बनाने की चेष्टा की है। वस्तुनिष्ठ बनाने और व्यक्तिपरक न होने देने के माने यह नहीं कि उसमें उसका अपना व्यक्तित्व नहीं रहेगा या उसमें प्रस्तुत ज्ञान उस व्यक्ति से नितांत असम्बद्ध हो जायगा। ऐसी बात नहीं है लेकिन जो मूल बात है वह यह है कि कहीं आप विषय-वस्तु को व्यक्तिपरक समझ कर अपनी भावना में न बह जाएँ और व्यक्तिगत ऐसे ही निष्कर्ष आप प्रस्तुत न कर दें। अधिकांशत: जिनकी न परीक्षा ठीक हुई होती है और न जिनके लिए प्रमाण मिलते हैं, न जिनके लिए कोई इतिहास हमारे सामने प्रस्तुत होता है ऐसी बातें भी हम लिख देते हैं। क्योंकि मुझे कोई चीज जँच रही है कि वह इस प्रकार की है या मुझे कुछ लगता है इसलिए मैंने कुछ भी लिखकर उसको प्रस्तुत कर दिया। ऐसी व्यक्ति परकता वर्जित है। क्योंकि इसमें अप्रामाणिकता असंगतता विरोधाभास वस्तुस्थिति ज्ञानहीनता आदि दोष स्वयमेव आ जाते हैं। आप किसी 'सत्य' का उद्घाटन करने के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं। उसके लिए ही आपका अनुसंधान या गवेषणा है। वह 'सत्य' ज्ञान का सत्य है। भाव का सत्य भी ज्ञान का सत्य होकर आना चाहिये। वस्तु-निष्ठ होने का अभिप्राय यह है कि जिस बात को आप कहें वह भले ही ही आपकी व्यक्तिगत धारणा हो लेकिन वह बाहरी प्रमाणों से इतिहास से युक्तियों से इस प्रकार से पुष्ट हो कि वह आपकी व्यक्ति-निष्ठ न रहकर वस्तुनिष्ठ प्रतीत हो। यह एक बहुत बड़ी चीज है। यदि हम इसको ध्यान में नहीं रखते तो प्रत्येक अनुसंधान प्रबंध या तो कविता बन जायगा या इसकी काव्यात्मक भावनाओं का या भावावेशों का उद्गार मात्र हो जायगा। साहित्यिक अनुसंधानों में इस प्रकार की व्यक्ति निष्ठता का बहुत भय होता है। मान लीजिए सूरदास जी पर आप प्रबंध लिख रहे हैं या लोकसाहित्य पर लिख रहे हैं तो इसमें आपको अनेकों भावोत्कर्षक स्थल मिलेंगे। अब यदि आप ऐसे स्थलों पर अपनी मुग्धता या अपने ही भावावेश का वर्णन करने लग जायेंगे या अपने आनंद के आस्वाद को ही शब्दबद्ध करने लगेंगे तो आप सूर या लोकसाहित्य के सत्य का उद्घाटन नहीं कर रहे होंगे। आप उसकी प्रतिक्रिया में अपनी अनुभूति या अपने आनंद के रस का वर्णन कर रहे होंगे। यदि इसे वौद्धिक कहें तो फिर इसे एकेडेमिक तो कम से कम नहीं कहा जा सकेगा। तो इसलिए यह बहुत आवश्यक है हम उसको इस प्रकार की व्यक्तिपरकता से बचायें और वस्तुनिष्ठ बनाने की चेष्टा करें। वस्तु के स्वरूप को हृदयंगम करें, उसका विश्लेषण कर वस्तुरूप में उन तत्वों को उद्घाटित करें जिनसे उसका निर्माण हुआ है उन तत्वों का वर्गीकरण करें उनके इतिहास स्रोत और विकास को देखें उसमें सौन्दर्य के मूल्य का निरूपण करें। वस्तुनिष्ठ बनाने के साथ ही उसकी वैज्ञानिकता का

सम्बन्ध है। हम जो प्रबंध प्रस्तुत करें वह वस्तुनिष्ठ तो हो ही। उसे वैज्ञानिक स्तर भी प्राप्त हो। और वैज्ञानिक स्तर प्राप्त करने के लिए मैं समझता हू कि जहाँ इस प्रकार की परिपूर्णताकी जरूरत है वहाँ उसमें युक्त वस्तुनिष्ठता या युक्तियुक्तता होने की भी तर्कयुक्तता आवश्यकता है, कार्य-कारण परपरा में गुथे होने की आवश्यकता है। इस बात की बहुत आवश्यकता है एक पुष्ट कार्य-कारण परपरा में बाध कर आप अपने अनुसधान को चलायें। कार्य-कारण की पुष्ट परपरा इसलिए कि 'तर्क-प्रणाली' में भौतिक कार्य-कारण परपरा के जैसा ठोस धरातल नही होता। अत यह सावधानी रखने की आवश्यकता है कि प्रत्येक युक्ति और उसका आधार यथा सभव निर्भ्रम हो। उसमें कोई लाजिकल फैलेसी (Logical fallacy) या तर्क-दोष न हो। यह तार्किक विचारणा की एक परपरा रिसर्च के कार्य में अवश्य होनी चाहिए। इस परपरा का जहा हमें अभाव दिखलाई पडता है वही मालूम पडता है कि या तो इसका एकेडेमिक स्तर गडबडा रहा है या कि लेखक उसके साथ ईमानदारी नही बरत रहा, अपने विषय के साथ ईमानदारी नही कर रहा है, या वह स्वय अपने साथ ईमानदारी नही कर रहा है और टालने के लिए या प्रमाद में या हलके रूप में इस कामको समाप्त करने के लिए इसको इस प्रकार से वह प्रस्तुत कर रहा है। यह भी कहा जा सकता है कि सभवत उसमें उस स्तर तक पहुँचने की क्षमता ही नही है। क्षमता का न होना बहुत भयानक कमी है।

वास्तविक महत्व की बात यह है कि आप ठोस रूप में ठोस निष्कर्षों के रूप में प्रत्येक बात लिखें। ऐसे निष्कर्षों के रूप में जिनको कि आपने प्रमाण से पुष्ट कर रखा है, जिनको कि आपने युक्ति से सिद्ध कर रखा है और जिनको कि आपने, अगर आपके पास ऐसी अपेक्षित मेधा है कि आप उसे अधिक से अधिक गणितीय अक-सकलन, रेखा-चित्राकन आदि सपुष्ट बनाकर के आपने प्रस्तुत किया है। इन्हें ही आपने अपने अनुसधान में स्थान दिया है। मैं इस बात को मानता हूँ कि साहित्य को भी मैथैमेटिकल स्तर पर प्रस्तुत किया जा सकता है। गणितीय विधान से साहित्य का भी अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है, और उनका उपयोग अनेकों प्रकार से होता है। यह भी हो सकता है कि कोई कहे साहित्य की तो इस तरह से आप हत्या ही कर देना चाहते है तो फिर उसमें रस ही नही रह गया, साहित्य ही क्या रह गया ? पर यथार्थ बात यह है कि जब डाक्टर शरीर की चीर-फाड करता है, तो वह न स्पदन की चिंता करता है, और न रक्त की चिंता करता है, और न वह यह सोचता है कि उसमें प्रेम की धारा बहरही है उस मनुष्य में या करुणा की धारा बह रही है या इसमें घृणा की धारा बह रही है। वह तो अपना काम करता है। तो जो अनुसधित्सु हैं वह भी जब तक रस की ही बात न करे, रस के ही ऊपर जबतक विचार न करें तब तक उसको विज्ञान के अन्दर बांध कर, गणित के अन्दर बांध कर, रेखाओ के अन्दर बांध कर उसका एक विशेष रूप आपके सामने रख देगा और कहेगा कि यथार्थ रूप तो यह है और जो कुछ है वह तो केवल हड्डी के ऊपर मांस इत्यादि आपने चढाकर उसे प्रस्तुत कर दिया है। वह कला-कृत्य आप

करते रहें लेकिन यथार्थ उसका मूल रूप यह है। यही शुद्ध ज्ञान की जिज्ञासा खोज की व्युत्पत्ति जो आपको बतायी गई है। तो शुद्ध ज्ञान के लिए तो इस प्रकार की खोज आवश्यक होती है। तो मैं यह समझता हूँ कि साहित्यिक अनुसंधान में भी हम इस प्रकार की प्रणालियों का उपयोग कर सकते हैं और इस प्रकार से कुछ मूल सिद्धान्तों को हम अपने सामने रख सकते हैं।

स्तर विषयक शिकायतें—

यह सामान्य धारणा है कि हिन्दी के प्रबन्धों का स्तर या तो कुछ होता ही नहीं या अत्यंत नीचा होता है।

बहुधा तो ऐसी आलोचनाएँ वे करते हैं जो हिन्दी से यथार्थ में परिचित नहीं होते जो स्वयं डाक्टर होते हैं और प्राचीन परिपाटी में डाक्टरी प्राप्त करने के कारण जिन्होंने एक रौब भी साथ साथ प्राप्त किया है—वे जब किसी हिन्दी डाक्टर से मिलते हैं तो उन पर यह प्रभाव पड़ता है कि

१ यह हिन्दी वाला कुछ ढीला ढाला है कुछ रौब दौब की बात नहीं करता कुछ डाक्टरीपन झलकता नहीं।

२ यह बात करता भी है तो देश विदेश के विद्वानों के नाम नहीं गिनाता। कुछ ऐसे लोगों के नाम गिनाता है जिनसे वह विदेशी मानसी परिचित नहीं।

३ वह यह भी समझता है कि इसे न तो विदेश जाना पड़ा न इसका परीक्षक ही कोई विदेशी हुआ भारतीय परीक्षक के पास ज्ञान कहाँ।

४ वह कहता है कि मैं देखता हूँ कि हिन्दी वाले परिश्रम करते ही नहीं इन्हें मैं कभी पुस्तकालयों में बैठकर पढ़ते नहीं देखता।

५ वह कहता है कि हिन्दी वालों को उपाधि खुशामद और नामदोस्त नाम से मिल जाती है।

६ यह भी वह कह सकता है कि अन्य विषयों के प्रबन्धों की चर्चा विदेशों के विद्वानों में और पत्रों में होती है हिन्दी की कहाँ होती है।

ऐसी आलोचनाओं और धारणाओं का मुख्य कारण हिन्दी के डाक्टरों का स्टेटस है। आलोचक की अपनी हीनता भाव-ग्रन्थि का भी इसमें दायित्व है। वह हिन्दी को अंग्रेजी शासकों और मुसलमानी शासकों की परंपरा में ही नहीं संस्कृतज्ञों की परंपरा में भी गँवारी भाषा समझता आया है वह बहुत से विद्वानों ' की तरह यह भी समझता रहा है कि हिन्दी तो कल से शुरू हुई है उसमें है ही क्या ? आदि। फिर पहली आलोचना हिन्दी तत्वों के बीच की आलोचना है।

दूसरी आलोचना का संबंध हिन्दी से इसलिए नहीं कि हिन्दी के विद्वान भारत में ही हैं वह विदेशी के विद्वानों के प्रमाण पर नहीं पनपती जैसे अन्य विषय पनपते हैं। और यह गौरव की ही बात है।

यही बात तीसरी युक्ति के सबध में है । हिन्दी वाला तो यह प्रतीक्षा कर सकता है कि उसके प्रमाण के लिए विदेश से लोग हिन्दी सीखने भारत में आयेंगे ।

चौथी बात के सबध में तथ्य यह है कि आज इस स्वतत्र भारत में भी हिन्दी प्रदेश के ही महाविद्यालयों के पुस्तकालयों में वह पुस्तकें और वह सामग्री नहीं जिसे पढने के लिए हिन्दी अनुसन्धित्सु पुस्तकालयों में जाये वह पुस्तकें और वह सामग्री नही जिसे पढने के लिए हिन्दी अनुसन्धित्सु पुस्तकालयों में बैठे । उसे तो एक एक पुस्तक के लिए दर दर भटकना पडता है । इतिहास और अर्थशास्त्र, अग्रेजी आदि की पुस्तकें तो पुस्तकालय से मिल जायेंगी, हिन्दी की नहीं । अत यदि हिन्दी का अनुसधित्सु परिश्रम करता भी है तो वह दूसरो को ऐसे रूप में दिखायी नही पडता-जब कि यथार्थ परिश्रम उसे दूसरो से अधिक पड जाता है ।

पाँचवी बात यदि सत्य है तो प्रत्येक विषय के लिए सत्य है । और खेर व्यक्ति विशेष से सबँधित हो सकती है, विषय की अपनी योग्यता से इसका कोई सबध नही ।

छठी बात का वही उत्तर है जो दूसरी तीसरी का है ।

फलत इस कोटि की आलोचनाओं में तथ्य कम और अहकार और अज्ञान अधिक होता है । इनके आधार पर हिन्दी के स्तर को क्षुद्र मानने का कोई कारण नही ।

किन्तु दूसरो कोटि के आलोचक हैं जो कहते हैं कि निश्चय ही हिन्दी के प्रबन्धो का स्तर नीचा है—क्यों कि–

१ हिन्दी के अनुसधितनु सामान्य पुस्तक और प्रबन्ध ग्रथो में अन्तर ही नही समझते ?

२ उनकी अनुसधान-प्रणाली और रूप-रेखा में वैज्ञानिकता का अभाव रहता है ।

३ उनके यहाँ अनुसधान की पुष्ट परपरा नही, और योग्य निर्देशक मिलते ही नही ।

४ वे अपने प्रबन्धो में वैज्ञानिक तार्किकता नहीं ला पाते ।

५ वे वास्तविक प्रमाण प्रस्तुत नही कर पाते क्यो कि वे नही जानते कि किस कोटि के प्रमाण को मान्यता दी जानी चाहिए । और किस कोटि के प्रमाणो को नही ।

६ वे प्रबन्ध में दिए गये लक्ष्यो को निर्भ्रान्त करने के लिए कोई उद्योग नही करते, अत तथ्य विषयक भूलें भी रहती हैं ।

७ वे किसी भी तथ्य को उपयुक्त परम्परा और तारतम्य में देखने के अभ्यस्त नही ।

८ वे शब्दो के विज्ञान से अपरिचित हैं—

९ वे साहित्य और कला का निजी ज्ञान नही रखते ।

१० उनके अध्ययन की सीमा बहुत सकुचित रहती है, वे उसे विस्तृत नही करना चाहते ।

११ वे यह भी नहीं जानते कि क्या सम्मिलित किया जाय क्या छोड़ा जाय?

१२ न वे यह जानते हैं कि एक अनुसंधान के प्रबन्ध को किस शैली में प्रस्तुत किया जाय।

१३ भाषा भी उनकी सदोष होती है। ऐसी स्थिति में थीसिस का स्तर क्या हो सकता है।

यथार्थ यह है कि उक्त बातों पर ही किसी अनुसंधान और प्रबन्ध का स्तर निर्भर करता है। उक्त बातों पर ही हम लोग किंचित विस्तार से चर्चा करें—

पहली बात सामान्य पुस्तक और प्रबन्ध के भेद की है। यदि अनुसंधित्सु इस भेद को नहीं जानता तो वह कुछ भी नहीं जानता। कई भेद इस संबंध में बहुत स्पष्ट हैं—

१ सामान्य पुस्तक सामान्य मान्यताओं के आधार पर होती है वह प्रत्येक बात और प्रत्येक शब्द की प्रामाणिकता के लिए व्यग्र नहीं होती। प्रबन्ध में प्रत्येक शब्द सप्रमाण होता है।

२ सामान्य कृति की शैलीमें साहित्य माधुर्य और भाव संस्पर्श आदि सभी के लिए स्थान है। उसको रोचक बनाने के लिए आप कुछ इधर-उधर की बातें भी ढंग से दे देंगे तो बुरा नहीं माना जायेगा—नहीं ये वरन् अच्छा माना जायगा।

३ सामान्य कृति में यदि आप अपने मन रुचि और अध्ययन की कोई वस्तु भी दे दें तो वह चल जायगी किन्तु प्रबन्ध में एक वाक्य भी अनावश्यक नहीं सहन किया जा सकता।

४ सामान्य कृति का उद्देश्य वर्ग साधारण को आकर्षित करने का होता है, प्रबन्ध का विशिष्ट वर्ग होता है।

५ सामान्य कृति सामान्य भाषा में होती है, प्रबन्ध पारिभाषिक तथा तात्विक शब्दों में लिखा जाता है।

६ सामान्य कृति में सामान्य वर्णन पर्याप्त है, प्रबन्ध में थोरोनैस" समग्र वृत्तान्त वर्णन होता है।

७ प्रबन्ध कृति के लिए वैज्ञानिकता अनिवार्य है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रबन्ध और सामान्य कृति में मौलिक अन्तर है। जो सामान्य कृति के लेखक होते हैं वे जब 'प्रबन्ध' लिखने बैठते हैं तो उनका धैर्य साथ छोड़ देता है क्यों कि उन्होंने जिन तत्वों को अपने लेख में समावेश करने का अभ्यास किया है वे यहाँ त्याज्य होते हैं। वह एक दो चलती पुस्तकों से कुछ सामग्री ग्रहण कर अपना निबन्ध तथा ग्रंथ खड़ा कर देता है प्रबन्ध के समस्त बड़े आधार ग्रंथ की प्रामाणिकता भी देखनी होती है और उस विषय पर लिखी गई उस समय तक की प्रत्येक पंक्ति पढ़नी पड़ती है। सामान्य कृति में भुस में दाना रखा जाता है प्रबन्ध में भुस में से दाने निकाल-निकाल कर संजोये जाते हैं। सामान्य लेखक प्रबन्ध लिखते समय इस भुस-त्याग की चेष्टा से घबरा उठता है, वह भुस और दान के भेद को भी कभी-कभी नहीं समझ पाता।

अत यह अन्तर अवश्य ही समझ लेना चाहिए और स्पष्ट ही प्रबन्ध लेखन के लिए आवश्यक मनोवृत्ति बना ली जानी चाहिए।

इस तथ्य को समझने के उपरान्त सब से मुख्य कार्य है अपने अनुसधान की प्रणाली निश्चित करना और उसके लिए रूप-रेखा बनाना।

यह सबसे कठिन कार्य भी माना जा सकता है। इस सबध में कुछ बातें तो विशेषत ध्यान में रखनी चाहिए।

पहली यह कि यथासभव यह प्रणाली अनुसधाता को ही निश्चित करनी चाहिए। प्रणाली के सबध में उसे रूप-रेखा बना लेना चाहिए—हम इस तैयारी में कभी-कभी महीनों लगा सकते है। क्यो कि पहले तो उसे यथासभव समस्त प्राप्य सामग्री का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए—

१ जितनी भी प्रकाशित तथा प्राप्य पुस्तकें है उसकी सूची उसे बना लेनी चाहिए।

२ वे कहाँ प्राप्य है इसका भी पता लगा लेना चाहिए।

३ उनमें कौन-कौन से विषय और अध्याय पठनीय है इसका सकेत लिख लेना चाहिए।

फिर, उसे यह देख लेना चाहिए कि उस समस्त विषय का ऐसा कौनसा अश या पहलू है जिस पर अभी प्रकाश नही डाला गया है। उसी को अपने लिए अनुसधान का विषय बना लेना चाहिए—तब यह सोचना चाहिए कि वह इसका अनुसधान किस प्रणाली से करेगा।

अनुसधान की सभवत निम्न लिखित वैज्ञानिक प्रणालियाँ हो सकती है—

१ सामग्री का सग्रह सकलन और उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण
२ विस्तृत क्षेत्र विषयक—व्यापक अनुसधान
  अ युग का समस्त विषय विषयक
  आ युग के किसी विषय-विशेष विषयक
  इ युग की प्रवृत्ति-विशेष विषयक
  ई. युग की पृष्ठि भूमि विषयक।
३ सकुचित क्षेत्र विषयक
  १ विशेष कवि
  २ विशेष प्रवृत्ति
  ३ विशेष भाव
  ४ विशेष शब्द प्रयोग

इन प्रणालियो के साथ ये प्रणालियाँ विशेष उल्लेखनीय है—

१ सग्रह संकलन वर्गीकरण प्रणाली
२ विश्लेषण प्रणाली

डॉ० रामकृष्ण गणेश हर्षे

अनुसंधान की तैयारी

१ व्याख्या--

प्रस्तुत प्रसग में अनुसधान शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। एक निश्चित उद्देश्य के साथ किसी विषय की बार-बार उस समय तक खोज करना जब तक कि एक नवीन विचार प्रणाली प्रस्तुत न की जा सके, जिसे तत्सम्बन्धित विषय मे एक ठोस योगदान समझा जा सके।

२ सामान्य भूमिका--

सामान्यत यह पहले ही कल्पना कर ली जाती है कि अनुसधित्सु को कम से कम 'डबल ग्रेजुएट' होना चाहिए और अधिकांश विश्वविद्यालयो में तो बिना एम०ए० किए हुए किसी भी छात्र को स्नातकोत्तरीय अनुसधान कार्य करने की अनुमति नही दी जाती है। अन्य सभी उपाधि परीक्षाओ की भाँति पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त करने के लिए भी बहुतेरे विद्यार्थी प्रयत्न करते है और यही कारण है कि आगरा विश्वविद्यालय प्रति वर्ष लगभग १०० पी-एच०डी० विद्यार्थियो को पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान करता है।

३ कुछ आवश्यक प्रतिबन्ध--

विश्वविद्यालयो द्वारा अनुसधान कार्य पर कुछ प्रतिबध लगाए गए है जैसे विद्यार्थी ने अको का उच्च प्रतिशत प्राप्त किया हो जो द्वितीय श्रेणी से कम न हो। आगरा विश्वविद्यालय एम०ए० पास करने के तुरन्त बाद ही नही, अपितु तीन वर्ष पूरा हो जाने के पश्चात् ही पी-एच०डी० के लिए नामकरण की अनुमति देता है। इसी प्रकार यह आशा की जाती है कि पी-एच०डी० का छात्र अपना शोध-प्रबन्ध 'रजिस्ट्रेशन' कराने के दो वर्ष बाद पूरा कर लेगा। बहुत से विश्वविद्यालयो में यह अवधि दो साल के लिए और भी बढ़ायी जा सकती है।

रूढ़ि—

परम्परानुसार ऐसा माना जाता है कि श्रेणी या उच्च प्रतिशत प्राप्त कर एम ए की परीक्षा उत्तीर्ण करने वाला कोई भी विद्यार्थी शोध प्रबन्ध लिखकर पी एच डी की उपाधि प्राप्त कर सकता है। इसी कारण आजकल पी-एच डी करने वालों की एक बाढ़ सी आ गई है। लेकिन यदि हम पी-एच डी विद्यार्थियों के कार्य का मूल्यांकन उनके इस मात्र उपाधि का प्राप्त कर लेने के पश्चात् करें तो हम पायेंगे कि अधिकांशतः पी एच डी की उपाधि ही उनके लिए सब कुछ होती है और इस उपाधि को प्राप्त कर लेने के पश्चात् उनके अनुसंधान-जीवन की समाप्ति हो जाती है और उसके बाद उनके द्वारा कोई भी महत्वपूर्ण योगदान नहीं किया जाता।

२ अनुसंधान की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ—

एक अत्यन्त महत्वपूर्ण चीज जो भुला दी जाती है वह यह है कि अनुसंधान के लिए एक विशिष्ट प्रवृत्ति की आवश्यकता होती है और अनुसंधान करने के लिए किसी विद्यार्थी का विश्वविद्यालय की परीक्षा को केवल विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण कर कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। विस्तृत सामान्य ज्ञान असीम श्रम करने की क्षमता धैर्य खोज की जाने वाली समस्याओं को पकड़ने की नैसर्गिक अन्तर्दृष्टि सूक्ष्म चीजों की टिप्पणी लेने की क्षमता विश्लेषण और पुनर्निबन्धन की शक्ति सत्यशीलता शोध प्रबन्ध के प्रत्येक महत्वपूर्ण विधान के लिए प्रामाणिकता का आग्रह, ये कुछ अनुसंधान कर्ता के आवश्यक गुण हैं। एक अनुसंधित्सु का विस्तृत सामान्य ज्ञान उस विद्यार्थी के विशिष्ट ज्ञान से पूर्णतया भिन्न होता है, जो किसी परीक्षा की तैयारी कर रहा है। जो कुछ उसने किया है उसे केवल तीन घंटे के सीमित समय में प्रस्तुत कर देने तक ही उसकी कार्य-क्षमता सीमित नहीं होती है अपितु ग्रंथ-सूची का बनाना टिप्पणियाँ लेना विविध स्रोतों से सामग्री संकलन करना और फिर इसे इस प्रकार सूचीबद्ध और पुनर्नियोजित करना जिससे कि एक नयी सृष्टि का निर्माण हो सके उसके लिए अपेक्षित है। वह तब तक सन्तोष पूर्वक बैठ नहीं सकता जब तक कि सभी विशिष्ट विषय और समाधान पर्याप्त रूप से प्रामाणिक सिद्ध नहीं कर दिए जावें और उनके लिए आवश्यक आधार प्रस्तुत नहीं कर दिए जावें। यह परीक्षक के संतोष से अधिक अनुसंधित्सु के अपने बौद्धिक विश्वास का प्रश्न है। उसकी बौद्धिक क्षमता और रचनात्मक कल्पना एक नैसर्गिक-अन्तर्दृष्टि और अन्तर्ज्ञान के द्वारा किसी प्राचीन विषय पर प्रकाश डालते हुए, जो प्रश्न-पत्रों के लिखने में अपेक्षित नहीं है पूर्ण प्रस्फुटित होती है। अनुसंधान में छोटी से छोटी और सूक्ष्म से सूक्ष्म चीजें बहुत ही महत्वपूर्ण होती हैं जिनका पारायण कर एक नये मार्ग की पुनःस्थापना होती है। जहाँ परीक्षा में इन छोटी-छोटी बातों का कोई महत्व नहीं होता है वहाँ तो एक संतुलित सीमा में केवल मुख्य-मुख्य विषय रख दिए जाते हैं। अनुसंधित्सु द्वारा संकलित की गई विस्तृत सामग्री की व्याख्या से शोध प्रबन्ध के शरीर का निर्माण होता है और एक सुसम्बद्ध एवं सुसंगठित कलापूर्ण प्रस्तुति उस शरीर को जीवन प्रदान करती है। किसी भी शोध प्रबन्ध का उस समय तक कोई स्थायी मूल्य नहीं होता जब तक कि उसका आधार सत्य न हो और उस सत्य

के लिए स्थिर, सुदृढ प्रमाण से सदर्भ उद्धृत किए गए हो। यह एक सर्वथा भिन्न कार्य प्रणाली है। इसमें खोज करने वाले व्यक्ति की खोज के लिए साहस और निराशा भी रहती है और साथ ही साथ एक नई खोज का आनन्द भी। लेकिन यदि दुर्भाग्य से उसका गलत निर्देशन होता है तो उसका सारा प्रयत्न मिट्टी में मिल जाता है। इसीलिए मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि तथाकथित शिक्षा-सस्थाओ की उपाधि प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही आवश्यक रूप से एक सफल अनुसधित्सु हो सकता है। एक सच्चे अनुसधित्सु के बारे में मेरा यह विचार है कि चाहे उसके पास कोई उपाधि हो या न हो, चाहे वह किसी भी परिस्थिति में क्यो न हो, वह सासारिक सफलता की चिन्ता किए बिना जीवन पर्यन्त अपना अनुसधान कार्य जारी रखता है। अनुसधान के प्रति उसकी भक्ति एक प्रकार का दैवी उन्माद होता है, जो उसके जीवन के साथ लगा रहता है और इसीमें उसके जीवन का यश, वैभव और आनन्द है यद्यपि वह अपने परिश्रान्त पथ को अकेला ही तय करता है।

मुझे ऐसे व्यक्तियो के उदाहरण मालूम हैं, जिन्होने कोई उपाधि न रहते हुए भी अनुसधान की बहुत बडी सेवा की है। राव बहादुर सर देसाई केवल एक सामान्य श्रेणी के स्नातक हैं, लेकिन वह हमारे अग्रगण्य इतिहासज्ञो में से एक हैं। राव बहादुर डी० बी० पारसनीस शायद 'मैट्रीक्यूलेट' भी नही थे, लेकिन वे महाराष्ट्र के आदि अनुसधाताओ मे से हैं, जिन्होने महाराष्ट्र के बाहर और भीतर भी ऐतिहासिक अनुसधान में बहुत से राजाओ को प्रेरित और उत्सहित किया है। डॉ० सकलिया ने केवल एम० ए० में थीसिस के द्वारा प्रथम श्रेणी प्राप्त कर ली थी, अन्यथा 'यूनिवर्सिटी कैरियर' बहुत उज्ज्वल नही था, लेकिन आज वह भारत के अग्रगण्य पुरातात्विक हे। और पार्गैतिहासिक अनुसधान के लिए अतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली है। इस प्रकार इस क्षेत्र में उन्होने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

फिर भी यह मानना पडेगा कि विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त करने वालो में एक प्रकार की सुसम्बद्ध सूक्ष्मता आ जाती है लेकिन सस्थागत उच्चस्तरीय योग्यता को ही अनुसधान के लिए आवश्यक समझकर उस पर असाधारण जोर देना अनुसधान के लिए बहुत ही हानिकारक है। बिना किसी प्रतिबन्ध के विद्वत्ता का द्वार सब के लिए खुला रखना चाहिए और अनुसधान की असाधारण उपलब्धियो के लिए अपेक्षित गुणो की मान्यता प्रत्येक व्यक्ति को मिलनी चाहिए। इसके साथ ही साथ यह भी भूलना नही चाहिए कि किसी दिए हुए विषय पर उपाधि प्राप्त करने के लिए शोध-प्रबन्ध के लिखने और अपनी नैसर्गिक प्रतिभा के साथ स्वत अनुसधान-क्षेत्र में प्रविष्ट होने की प्रवृत्ति में मौलिक भेद है। यह एक प्रसन्नता की बात है कि विश्वविद्यालय अपने स्नातकोत्तरीय अनुसधान क्षेत्र का तेजी के साथ विकास कर रहे हैं लेकिन केवल उपाधि प्रदान करना मात्र ही नही अपितु ठोस अनुसधान कार्य उनका अभीष्ट होना चाहिए।

६ प्रारभिक प्रशिक्षण

हमारे देश में जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती है उसके स्तर और आदर्श तथा अध्यापको और विद्यार्थियो द्वारा गहीत शिक्षा और परीक्षा-प्रणाली को देखते हुए एक

अनुसंधित्सु के लिए यह आवश्यक होना चाहिए कि वह अपनी शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् कुछ समय प्रशिक्षण में लगाए और जिस विषय में उसकी रुचि है जिस विषय पर वह अनुसंधान करना चाहता है उस विषय के ज्ञान को सामान्य अध्ययन द्वारा आगे बढ़ाए। उसके लिए, विभिन्न विद्वानों द्वारा अपने शोध प्रबन्ध में गृहीत विधियों और प्रणालियों से तथा अनुसंधान-साहित्य से पूर्णतया परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। क्षेमेन्द्र ने अपने कवि कण्ठाभरण में कवियों के प्रशिक्षण के लिए एक व्यावहार विधि की व्यवस्था की है। इसी प्रकार अनुसंधाताओं के लिए भी एक प्रकार की सामान्य शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था अपेक्षित है। आज के वैज्ञानिक युग में अन्य सभी वस्तुओं की भाँति अनुसंधान भी एक यांत्रिक प्रक्रिया बन गया है। इसलिए अनुसंधान के सभी उपकरणों से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है।

७ पुस्तकालय

कुशल विशेषज्ञों द्वारा सुसज्जित पुस्तकालय अनुसंधान की एक मूलभूत आव श्यकता है। पुस्तकालय भी कई प्रकार के होते हैं लेकिन अनुसंधान के लिए तो अनुसंधान ग्रन्थालय ही उपयोगी होते हैं। इस प्रकार के सुव्यवस्थित पुस्तकालयों के बिना अनुसंधान की ऊँची ऊँची बातें करना बिल्कुल बेकार है। यूरोप और अमरीका के ग्रंथागारों की भाँति भारतीय ग्रन्थागारों के पुस्तकों की गणना लाखों में न होकर केवल हजारों में ही होती है और इसके साथ ही साथ हमारे देश में जहाँ तक पुस्तकालयों की व्यवस्था का प्रश्न है वह अभी तक अपने प्रारंभिक अवस्था में ही है। हमारे बुजुर्ग लोग अब भी यह अनुभव करते हैं कि क्लर्क और चपरासियों के द्वारा पुस्तकालय चलाया जा सकता है। वे वर्तमान काल के प्रशिक्षित कुशल पुस्तकाध्यक्षों के विविध कामों और उनकी प्रमुख सेवा से अभी पूर्णतया अनभिज्ञ हैं और जब तक इस प्रकार की कार्य प्रणाली में सुधार नहीं किया जाता विश्व के ज्ञान भाण्डार में किसी भी प्रकार के योगदान दिए जाने की आशा दुराशा मात्र है। इसी कारण सभी ओर भारतीय विद्वत्ता की अवहेलना हुआ करती है। लेकिन आज भी हमारे विश्वविद्यालय और कालेज सभी प्रकार के ज्ञान के मूल स्रोत और अनुसंधान को जीवन प्रदान करने वाले तत्व की उपेक्षा कर केवल इमारतों पर ही आँख मूँद कर रुपए खर्च कर रहे हैं।

८ पुस्तक-प्रेम

एक अनुसंधित्सु के लिए यह अपेक्षित है कि कम से कम वह पुस्तक प्रेमी अवश्य हो। तत्सम्बन्धित विषय की पुस्तकें कहाँ उपलब्ध हो सकती हैं इसका उसे पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। उसे ग्रंथ-सूची पुस्तक-विवरण के विस्तृत साहित्य और संदर्भ-पूर्ण पुस्तकों के अन्त में दी हुई ग्रंथ-सूची का भी ज्ञान होना चाहिए। पुस्तकालय की पुस्तकों का बाह्य परिचय भी बहुत उपयोगी होता है। इन पुस्तकों के अतिरिक्त यूरोप और अमरीका में बहुत सी विशिष्ट पत्र पत्रिकाएँ और भारत में भी कुछ सामान्य पत्रिकाएँ निकलती हैं जिनमें कभी के बारे में महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते रहते हैं। हमारे देश के लोगों ने सभी प्रकार के अध्ययन के लिए ग्रंथ-सूची को एक अपरिहार्य आवश्यकता के रूप में अनुभव किया है। अभी हाल ही भारतीय पत्रों की एक वैज्ञानिक और पूर्ण

सूची पूना से प्रकाशित हुई है। जहाँ तक भारतीय भाषाओ का सम्बन्ध है सुपर-रायल आकार के १२०० पृष्ठों की, मराठी साहित्य की वर्गीकृत ग्रथ-सूची भारत में अपने ढग का सबसे पहला प्रयास है। यह अकेले एक व्यक्ति के अथक परिश्रम का परिणाम है जिसने लगातार १० वर्ष तक विना किसी सहायता के काम किया। 'यूनेस्को' ने विविध-विषयो के आन्तरराष्ट्रीय पुस्तक सूची के प्रकाशन का काम अपने हाथ में लिया है। गैर सरकारी तौर पर भी इगलैण्ड, फ्रान्स और जर्मनी आदि देशो में कुछ ऐसी विशिष्ट सस्थाएँ हे जो पत्रिका के रूप मे विविध प्रकार की पुस्तक-सूची को प्रकाशित करती हे। कुछ प्रसिद्ध प्रकाशको के वर्गीकृत ग्रथ-सूची से भी लाभ उठाया जा सकता है। यूरोप के प्रकाशको ने मिलजुलकर सार्वजनिक उपयोग और विज्ञापन के लिए अपनी सभी प्रकाशित पुस्तको का एक सदर्भ ग्रथालय (Reference library) स्थापित किया है। भिन्न-भिन्न पुस्तकालयो की छपी हुई पुस्तक सूची भी, सूचनाओ का एक मुख्य स्रोत है।

९. शब्द कोषो का उपयोग

विद्यार्थिओ को शब्द कोष का उपयोग वताया जाना चाहिए। मै ऐसे स्नातकोत्तरीय विद्यार्थियो को जानता हूँ जिन्होने अपने जीवन में कभी एक साधारण कोष को भी नही देखा है और न तो वे यही जानते हैं कि कोष में वर्णमाला के क्रमानुसार शब्द रखे जाते हे। यह सब 'नोट्स' और 'गाइड्स' (टिप्पणी-पुस्तक और प्रदर्शिकाओ) का ही परिणाम है। अग्रेजी में 'इनसाइक्लोपीडिया' से लेकर डिक्शनरी आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स (Dictionary of Religion and Ethics) और डिक्शनरी आफ नेशनल बिओग्राफीज (Dictionary of National Biographies) जिनमें विद्वानो द्वारा हर तरह के विषय पर उच्चस्तरीय लेख लिखे गए हैं, ऐसे सभी प्रकार के विशिष्ट कोष प्राप्त हे। इन सव साधनो के द्वारा नयी से नयी सूचना प्राप्त की जा सकती है। 'गजेटियर' 'ईयर बुक' और सभी तरह के 'सर्वे रिपोर्टों' से भी अनुसधान के सैकडो विषय लिए जा सकते हे।

१० विद्या की दुनियाँ (The World of Learning)

इन सब स्थानीय सहायक उपकरणो के अतिरिक्त आज सारे ससार में अपने विषय के विद्वानो द्वारा व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना भी सभव हो गया है, जो हमारे लिए बहुत उपयोगी है। इस प्रकार का सम्पर्क 'यूनेस्को' जैसी किसी सस्था के माध्यम से स्थापित नही किया जाता है अपितु 'दि वर्ल्ड आफ लर्निग' (The world of Learning) नाम निर्देशक-ग्रथ की सहायता से, जिसके द्वारा ससार भर के विद्वानों तथा साथ ही साथ विश्वविद्यालय, कालेज तथा इसी प्रकार के विविध सस्थाओ में कार्य करने वाले अध्यापको के विषय की भी सूचना हमें मिलती है। इसका प्रकाशन प्रतिवर्ष होता है और इसमें बहुत ही नवीनतम सूचनाएँ दी जाती हैं। इस प्रकार के मौलिक सहायक उपकरणो को अनुसधान करने वाले विद्यार्थियो की पहुँच में रहना सर्वथा अपेक्षित है।

११ व्यक्तिगत पुस्तकालय —

यूरोप में प्रत्येक उच्च कोटि के विद्वान के पास अपना एक व्यक्तिगत ग्रंथागार रहता है। जिसे वह अपनी आर्थिक शक्ति के अनुसार अपने निर्वाचित विषय के क्षेत्र में नवीनतम रखने का प्रयत्न करता है। संसार के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान प्रो० लुई रनू (Prof Louis Renou) का विशाल अध्ययन-कक्ष किताबों से भरी हुई १ १ फीट तक ऊँची रोस्को से घिरा हुआ है। प्रो० जूल ब्लाक (Prof Jules Bloch) के घर में उनके अध्ययन कक्ष तक पहुँचने के पहले हमें किताबों कि बीच से होकर जाना पड़ता था। इन विद्वानों का पुस्तकों के प्रति यह मोह पूर्णतया स्वाभाविक है। लेकिन हमें अभी इस तरह की आदत का विकास करना है। यह केवल रुपए पैसे का ही प्रश्न नहीं है। यूरोप में भी अन्य देशों की भाँति विश्वविद्यालय के अध्यापक वेतन कम पाते हैं लेकिन उनके पुस्तकों का सुद्ध प्रेम साक-प्रसिद्ध है। और यही उनकी एकमात्र सम्पत्ति है। हमारे कला अध्यापक पुस्तकों पर एक पाई भी खर्च नहीं करते हैं और अपने मुख्य कार्य की उपेक्षा कर अपने को अतिरिक्त कार्यों में लगाए रखते हैं। यही कारण है कि भारत में विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों द्वारा जो कुछ भी योगदान हुआ है वह बहुत ही तुच्छ और सारहीन है, जो यूरोपीय विद्वानों के लिए यमीरता और चिन्तन का विषय बिल्कुल ही नहीं है। यदि इस स्थिति को बदल कर एक स्वस्थ परम्परा का प्रतिष्ठापन किया जाय तो हमारे प्राध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही उच्चस्तरीय तथा नए हुए व्यक्तिगत ग्रंथालयों का विकास कर सकेंगे। अनुसंधान के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण चीज विचारों की खोज है और उसमें थोड़ा सा भी विलम्ब असहनीय हो जाता है। इसके साथ ही साथ विषय को प्रामाणिक बनाने के लिए तत्कालीन ग्रंथ निर्देशक अनुसंधान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जिसके बिना अनुसंधान निर्जीव सा हो जाता है। इसलिए ऐसे अवसरों पर व्यक्तिगत पुस्तकालय एक वरदान सिद्ध होते हैं।

१२ विषय का निर्वाचन और निर्देशक —

जब तक कि विद्यार्थी को अपने विषय की अच्छी जानकारी नहीं है और खोज करने के लिए अपनी समस्याएँ नहीं हैं जो कि अमुमा कम ही होता है विद्यार्थी को प्राध्यापक के द्वारा लिखित मार्ग प्रदर्शन की आवश्यकता पड़ती है जिसके अधीन वह अपने दाख प्रबन्ध के विषय निर्वाचन के अनुरूप कार्य करना चाहता है। जब एक स्नातकोत्तरीय अनुसंधान संस्था ज्ञान विभागीय कार्य की योजना बनाती है और समस्याओं की नयी खोज में प्रवृत्त होना चाहती है तब प्राध्यापकों के सममाभाव के कारण उन दोनों में समन्विगुमा को नया देन से यह समस्या कुछ सरल हो जाती है। किसी विषय-विशेष में विद्यार्थी का मार्ग-दर्शन कराने के लिए निर्देशक को उस विषय का सामान्य ज्ञान होना अति आवश्यक है। और उसे अनुसंधान को आगे बढ़ाने के हेतु उन समस्याओं पर विशिष्ट अध्ययन करने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए जिसे विद्यार्थी समय समय पर उसके विचार उसके सामने रखता है। शोध प्रबन्ध का उत्तरदायित्व जिस प्रकार विद्यार्थी पर होता है उसी प्रकार उसके निर्देशक पर भी होता है। यदि कोई विद्यार्थी अपने निर्देशक

के निर्देशानुसार नही चलता है, तो यह दूसरी बात है लेकिन यदि वह ऐसा करता है तो उसका निर्देशन, मार्ग-दर्शन उसके अभीष्ट उद्देश्य तक होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि निर्देशक अपने इस उत्तरदायित्व को समझ लेते हैं तब किसी प्राध्यापक को एक समय ५ या ६ से अधिक विद्यार्थियो का निर्देशन स्वीकृत करना सभव नही होगा।

मुझे ऐसे प्राध्यापको के उदाहरण मालूम हैं, जो विषय के उपयुक्त ज्ञान के अभाव में विद्यार्थी का गलत पथ प्रदर्शन करते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनमें से कुछ के जीवन का बहुमूल्य २-३ वर्ष का समय बरबाद हो जाता है। उदाहरण स्वरूप एक विद्यार्थी को हिन्दूधर्म की सस्कार विधियो का विकास (Development of Hindu Sacraments) विषय अनुसधान के लिए दिया गया लेकिन जैसा कि धार्मिक विधियाँ अपने पूर्ण विकसित रूप में परम्परानुसार गृह्य-सूत्र में हमारे पास तक आई है, गृह्य-सूत्र के पूर्ववर्ती साहित्य में इस विषय के लिए कोई भी सामग्री प्राप्त न हो सकी। तब उसे महाभारत से सामग्री सकलन करने के लिए कहा गया। वह बेचारा अठारहो पर्व छान गया लेकिन कुछ भी हाथ नही लगा। तब उसे अपनी धार्मिक विधियो की तुलना पारसी विधियो से करने और वहाँ विकास के सूत्र को ढूँढने के लिए कहा गया। वहाँ फिर उसे निराश होना पडा। और फिर अन्त में एक शब्द भी शिकायत किए बिना उसे पी-एच० डी० की उपाधि लेने के विचार को छोड देना पडा।

एक दूसरे विद्यार्थी को स्थानो के नाम का अध्ययन (The Study of Place-names) नामक विषय अनुसधान करने के लिए एक प्राध्यापक द्वारा दिया गया और उससे लगभग ५००० स्थानो के नाम सग्रह करने को कहा गया। उसने इस काम को एक वर्ष के अन्दर पूरा कर लिया और फिर उस प्राध्यापक के पास आगे के निर्देशन के लिए गया। लेकिन उसको अनुसधान की उपयुक्त प्रणाली और अभीष्ट ज्ञान देने के बजाय उस प्राध्यापक ने उसे ५००० और नामो का सग्रह करने के लिए कहा। उसने तत्परता के साथ दूसरे साल काम किया और ५००० नामो के स्थान पर ७००० नामो का सग्रह कर लिया, इस आशा से कि वह शीघ्र ही अपना अनुसधान कार्य समाप्त कर लेगा। सब मिलाकर उसने १२००० नामो का सग्रह किया, जो कि एक बहुत बडा कार्य था, लेकिन उसके शोध-प्रबन्ध को तैयार करवाने के लिए प्राध्यापक के मस्तिष्क में कोई भी स्पष्ट रूपरेखा नही थी। इसलिए और अधिक समय लेने के लिए उससे २०००० नामो की सख्या पूरा करने के लिए कहा गया। इस पर बहुत ही उद्विग्नता के साथ विद्यार्थी ने एक पत्र भेज कर उस प्राध्यापक की भर्त्सना की और इस कटु अनुभव के साथ उसे अपना सभी अनुसधान कार्य समाप्त करना पडा।

१३ निर्देशक का उत्तरदायित्व —

इन उदाहरणो के देने का मुख्य प्रयोजन यह है कि निर्देशक को अपने उत्तर-दायित्व से पूर्णरूपेण सचेत रहना चाहिए और उसे अन्त तक उस अनुसधान कार्य की प्रगति का निरीक्षण करते रहने के लिए इच्छुक रहना चाहिए जिसे उसने अनुसधित्सु के लिए निर्धारित किया है। उसे अच्छी तरह सुव्यवस्थित रूप में शोध-प्रबध की रूप

रेखा विद्यार्थी के सम्मुख प्रस्तुत करनी चाहिए और स्वयं समय-समय पर दिए गए निर्देशनों का एक लेखा भी उसको अपने पास रखना चाहिए।

१४ रूपरेखा और संक्षिप्त विवरण—

यहाँ पर मुझे विश्वविद्यालयों द्वारा शोध प्रबन्ध के विषय की स्वीकृति कराने के लिए, अनुसंधान के आरम्भ में ही विद्यार्थियों द्वारा दिए जाने वाली रूपरेखा की अद्भुत प्रणाली की याद आती है। जैसा कि निर्देशक एकेडेमिक-कउंसिल का सदस्य होता है, (अगर नहीं होता है तो होना चाहिए) और जो विषय वह अनुसंधित्सु को देता है उस विषय का ज्ञाता होने के कारण अनुसंधान काम की स्वीकृति के हेतु उसके अभिमत और प्रस्ताव को पर्याप्त समझकर औपचारिक रूप से उसे मान्यता प्रदान कर देनी चाहिए। यह उसका कर्त्तव्य है कि वह अनुसंधित्सु द्वारा किए जाने वाले अनुसंधान के क्षेत्र की व्याख्या करे। इस प्रकार उसे अनुसंधान का पूर्ण उत्तर दायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए और यदि उसके किसी विषय के पक्ष-समर्थन के पश्चात् उसका प्रस्ताव ठुकरा दिया जाता है तो यह उसके न्याय और निर्देशन शक्ति का अभाव समझना चाहिए। इस प्रकार के उत्तरदायित्व-पूर्ण अनुसंधान का ही परिणाम फलप्रद होगा।

यदि विद्यार्थी अपने अनुसंधान का परिणाम पहले से ही जानता हो तो फिर अनुसंधान करने की बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं। दूसरे प्रदेशों में यह प्रथा है कि शोध प्रबन्ध के प्रस्तुत करने के एक महीना पहले या अधिक से अधिक तीन महीना पहले उस विषय की रूपरेखा प्रस्तुत की जाती है जिसका अभिप्राय यह होता है कि वह शोध-प्रबन्ध पूर्णतया तैयार हो गया है और एक निश्चित समय के अन्दर उसे प्रस्तुत किया जा सकेगा।

१५ अनुसंधान के प्रकार—

जिन विषयों पर स्नातकोत्तरीय अनुसंधान कार्य होता है। उनके भिन्न-भिन्न वर्ग हो सकते हैं—

(अ) एक नये क्षेत्र का उद्घाटन—

इसमें किसी एक ऐसे विषय पर अनुसंधान किया जाता है जिस पर पहले कोई काम नहीं हुआ हो। यहाँ अनुगामियों से उपयुक्त निर्देशन न मिलने के कारण कार्य में उसे कठिनाइयाँ आती हैं, जिसका समाधान विद्यार्थी और निर्देशक दोनों की कल्पना शक्ति पर आधार करता है। यदि अनुसंधान-कार्य वैज्ञानिक आधारों पर होता है तो यही उस कार्य का एक मात्र महत्त्व है।

(ब) मूल्य-पथ—

एक जाने-बूझे विषय पर शोध प्रबन्ध लिखना और भी कठिन है जबकि प्रत्येक व्यक्ति इसके बारे में कुछ न कुछ जानता है। जब तक आप किसी नये तथ्य की खोज न करें सफलता की आशा रखना व्यर्थ है। उसका अन्तिम आधार, उपलब्ध

सामग्री को समाधानकारक प्रमाणो से पुष्ट और पुनर्नियोजित कर उसे नये प्रकाश में प्रस्तुत करना है ।

(स) व्यापक विचार—

इस प्रकार के अनुसंधान का एक आदर्शभूत उदाहरण प्रो०जूल ब्लॉक (Prof Jules Bloch) का शोध-प्रबन्ध 'लैंडो आर्या' ('L' Indo Aryen') है जिसमे उन्होने 'रायल आक्टेवो' आकार के ३३५ पृष्ठो में लगभग २५०० वर्ष के आर्य भारतीय भाषाओ के इतिहास और विकास का निरुपण किया है । इसका प्रत्येक पृष्ठ पूर्ण रूप से विवेचित दृष्टान्तो और ठोस शैली से गुँथा हुआ है जो लेखक के असीम कष्ट सहिष्णुता का परिचय देता है । काल-खण्ड के लम्बे होने पर भी उन्होने अपने विषय के यथार्थ स्वरूप को बहुत ही सफलता के साथ थोडे में ही प्रस्तुत किया है ।

(द) सूक्ष्म अध्ययन—

इसके अन्तर्गत किसी विषय के सभी पहलुओ का सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है । इसके सम्बन्ध में पेरिस विश्वविद्यालय के डॉ० जाँ फिल्योजा (Dr Jean Filliozat) की दो कृतियो का उदाहरण देना चाहूँगा । रावण का कुमारतंत्र (Kumāra Tantra of Rāvana) एक छोटा सा निबन्ध है जिसमें केवल १२ पद्य हैं । लेकिन इसके लिए उन्होने पूरे एशिया महाद्वीप में प्राप्त उसके तुलनात्मक पाठो का अध्ययन किया है और 'क्राउन साइज' के १९२ पृष्ठो को आपने गहन अध्ययन में लगाया है । उनकी दूसरी कृति में इस बात का विवेचन किया गया है कि हिन्दू परम्परागत धारणाओ के अनुसार आयुर्वेद को किस प्रकार वेदो का उपवेद कहा जा सकता है । उन्होने अपने इस ग्रंथ में वैदिक और वैदिकोत्तर पाठो का तुलनात्मक अध्ययन कर अपने इस विचार को रायल आक्टेवो आकार के २२७ पृष्ठो में पूर्ण विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है जिसका शीर्षक 'ला' दॉक्त्री क्लास्सीक द ला मेद्सीन अँदीयन्न ("La Doctrine classique de la Medicine Indienne") ।

(य) साहित्यिक अनुसंधान—

अनुसंधान का एक और प्रकार भी होता है जिसे विशुद्ध साहित्यक कह सकते हैं । यह मुख्य रूप से प्रकाशित ग्रंथो पर आधारित होता है । इसमें दूसरे के द्वारा किसी विषय पर कही गई बातों का पुनरावलोकन करते हैं और शोध-प्रबन्ध में प्रस्तावित विचार धारा को प्रामाणिक सिद्ध किया जाता है । साहित्यिक आलोचना के सभी शोध-प्रबन्धो को इस वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

१६ अनुसंधान की विधि—

अनुसंधान किसी भी प्रकार का क्यो न हो उसकी विधि एक ही होती है । एक निश्चित दृष्टिकोण, व्यवस्थित कार्य-प्रणाली, तर्क संगत विवेचन और प्रतिपाद्य विषय की प्रामाणिकता, यही अनुसंधान के मूल तत्त्व हैं । अनुसंधान की मूलभूत समस्या आपके विशिष्ट विचारो की नही अपितु उस विचार को प्रामाणिक और सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने की है । यह याद रखना चाहिए कि साहित्यिक आलोच-

नामों के विषय में कोई एक अन्तिम मत प्रतिष्ठापित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के निबन्धों का अनुसंधान की दृष्टि से कम महत्व रहता है। यदि आपके विचार से शोध प्रबन्ध के परीक्षक के विचार नहीं मिलते हैं तो आपके अहित हो जाने का डर बना रहता है और आपके अपने प्रयास में असफल न होने पर भी उसके लिए अपेक्षित सम्मान नहीं मिलता है।

१७ विषय—

शोध-प्रबन्ध के विषयों का विविध वर्गीकरण किया जा सकता है। साहित्य सम्बन्धी विषय निम्न प्रकार के हो सकते हैं।

१ भाषा वैज्ञानिक।
२ ऐतिहासिक अध्ययन।
३ टक्निकल और वैज्ञानिक अध्ययन।
४ साहित्यिक आलोचना।
५ तुलनात्मक अध्ययन।
६ अप्रकाशित ग्रंथो का आलोचनात्मक प्रकाशन और
७ क्षेत्रीय सामग्री संकलन उसका प्रकाशन प्रतिवेदन और अध्ययन आदि।

१८ अनुसधान की सुविधाएँ—

(१) विद्यापीठ का पुस्तकालय—

यह बहुत संतोष की बात है कि हमारे विद्यापीठ के पुस्तकालय में १ पुस्तको का संग्रह है। यह भी आशा की जाती है कि जैसे ही पुस्तक-सूची तैयार हो जायगी जिससे विद्यार्थियों को यथासंभव हर तरह की सुविधा हो जायगी। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि अनुसंधान के लिए संदर्भ ग्रंथालय (Reference Library) होने के कारण विद्यापीठ के बाहर इसकी किसी भी पुस्तक को ले जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। विद्यार्थियों के लिए एक खुले हुए अध्ययन-कक्ष की व्यवस्था करने का भी विचार हम कर रहे हैं जिसको शीघ्र ही क्रियान्वित किया जायगा।

(२) विश्वविद्यालय का ग्रंथागार—

विद्यापीठ के पुस्तकालय के अतिरिक्त यहाँ के विद्यार्थी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय का भी उसके नियमानुसार लाभ उठा सकते हैं। स्नातकोत्तरीय अनुसंधान कार्य के लिए वहाँ पर विशेष प्रकार के अध्ययन-कक्षों की व्यवस्था है, जिन्हें नियमित कार्य करने वाले विद्यार्थियों के लिए सुरक्षित किया जा सकता है। विश्वविद्यालय का पुस्तकालय विद्यार्थियों के लिए डाक और रेल खर्च देने पर उनके लिए बाहर के दूसरे पुस्तकालयों से भी पुस्तक मँगाने की व्यवस्था कर सकता है।

(३) सस्थागत ग्रथ उधार लेने की सुविधाएँ—

जैसे ही हमारे विद्यापीठ का ग्रथालय सुव्यवस्थित हो जाएगा, वह बाहर से भी पुस्तको के उधार लेने की सुविधा प्रदान कर सकेगा। पुस्तको के उधार लेने की यह पद्धति डेक्कन कालेज पोस्ट ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इस्टीट्यूट (Deccan College Postgraduate & Research Institute) में बहुत सफलीभूत हुई है और पूना में भी अन्तर्संस्थागत उधार लेने की पद्धति विकसित हो गई है। यदि हमारे पास बहुमूल्य और दुर्लभ पुस्तको का सग्रह हो जाय और यदि हम बाहर के लोगो को भी पुस्तकें प्रदान करने की स्थिति में आ जायें तो यह उधार लेने की व्यवस्था यहाँ भी विकसित की जा सकती है।

(४) फोटो स्टाट कापी

माइक्रोफिल्म और फोटो स्टाट के साधन विद्यापीठ में पहले से ही विद्यमान है। एक 'माइक्रोफिल्म रीडर' भी है और अनुसधित्सुओ के लिए 'प्रिंट्स' भी सुलभ किये जा सकते है। इस तरह की सुविधाएँ प्रत्येक सस्था और प्रमुख ग्रथागारो में प्रदान की जाती है। हस्तलिखित ग्रथो और अति दुर्लभ पुस्तको के सम्बन्ध में विदेशो से सस्ते दर पर माइक्रोफिल्म या फोटो स्टाट प्रिंट करवाना भी आज सभव हो गया है। यदि हम ऐसी ही बाह्य सस्थाओ से पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने में सफल हो सकें तो ससार में कोई भी ऐसी पुस्तक नही होगी, जिसके अभाव में हमारा अनुसधान कार्य रुकता हो, हम विद्यापीठ में मगा न सकें। ऑफ्रेक्ट (Aufrecht) की ३ विभागो में पूरी ग्रथ सूची, जो कि बहुत ही उपयोगी और दुर्लभ है तथा भारतीय दर्शन में किसी भी प्रकार के कार्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है, उसका माइक्रो फिल्म और प्रिंट डेकन कॉलेज के सदर्भ ग्रथालय विभाग में उपलब्ध है। लेकिन इस प्रकार के कार्य कम ही होते है और तभी होते है जब उसके लिए अन्य कोई साधन सभव नही होता।

(५) 'टेपरेकॉर्डर'

भाषाविज्ञान और लोक साहित्य के अध्ययन के लिए विद्यापीठ में 'टेपरेकॉडर' मशीन भी है जिसका उपयोग आजकल अनुसधान कार्य के लिए बहुतायत के साथ किया जा रहा है। और जिसने अनुसधान के एक नये क्षेत्र का द्वार खोल दिया है।

(६) शोध-सस्थाओ की सदस्यता

मै इस समय प्रत्येक अनुसधित्सु को विविध प्रकार के अनुसधान सस्थाओ के सदस्य होने की सलाह दूँगा क्योंकि वे अपने सदस्यो को सभी प्रकार की अनुसधान-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करती हैं। सबसे पहले तो किसी शोध-सस्था का सदस्य होना ही गौरव की बात है। आप उनसे पुस्तकें उधार ले सकते है, कम मूल्य पर उनकी प्रकाशित पुस्तकें प्राप्त कर सकते हैं। प्राय वे अपने सदस्यो को नि शुल्क पत्रिकाएँ देती हैं और उनके द्वारा दी जाने वाली सुविधाओ की अपेक्षा उनका सदस्यता शुल्क भी कोई अधिक नही है। इस प्रकार आप स्वय अपने नाम से पुस्तकें प्राप्त कर सकते है, उनके विश्वासपात्र बन सकते हैं और यदि आपको उनके वार्षिक सत्र और सभाओ में सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हो तो आप देश के उच्चकोटि के अनुसधाताओ के साथ सम्पर्क भी स्थापित कर सकते

है। इस प्रकार की उच्चकोटि की संस्थाओं के सदस्यता व्यय को अपने उपाधि प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले व्यय का ही एक अंश समझना चाहिए और अन्ततोगत्वा जो लाभ इससे लाभ उठाते हैं वह आपके खर्च से कई गुना अधिक होता है।

(७) अनुसंधान-छात्रवृत्ति

बहुत सी संस्थाएँ अपने विद्यार्थियों को अनुसंधान के लिए छात्रवृत्ति प्रदान करती हैं। लेकिन इन छात्रवृत्तियों के अतिरिक्त प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार से भी कुछ छात्र वृत्तियाँ मिलती हैं। ये छात्रवृत्तियाँ बहुत उपयोगी होती हैं इसलिए हमारे विद्यापीठ के छात्रों को इस प्रकार की छात्रवृत्तियों को प्राप्त करने की सुविधा हाथ से जाने देना नहीं चाहिए।

(८) छात्र-संगठन

यूरोप में विद्यार्थियों के लिए बहुत सी सुविधाएँ विद्यमान् हैं। प्रत्येक देश में छात्र संगठन होते हैं जो समय समय पर विद्यार्थियों को प्राप्त होने वाली सुविधाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करते रहते हैं। यह सुविधाएँ कई प्रकार की होती हैं। निवास-स्थान की सुविधा, भोजन की सुविधा, व्यक्तिगत प्रशिक्षण की व्यवस्था, सायंकालीन कक्षाएँ, ग्रीष्म ऋतु में अध्ययन की व्यवस्था, विशिष्ट काल तक चलने वाले अभ्यास क्रम, छात्रवृत्ति और यात्रा व्यय आदि की सुविधाएँ वे प्रदान करते हैं। हमें इस तरह की संस्थाओं का अभी विकास करना है लेकिन यदि इस तरह की संस्थाएँ कहीं हों तो अनुसंधित्सुओं को उनसे पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिए।

(९) विदेशी छात्रवृत्तियाँ

विदेशों में घूमने के आकर्षण के अतिरिक्त वहाँ के प्रशिक्षण का अपना अलग महत्त्व होता है। बहुत से देशों में अनुसंधान करने वाले छात्रों को छात्र-वृत्ति प्रदान की है। विदेश में और हमारे देश में भी ऐसी बहुत सी परोपकारी संस्थाएँ हैं जो महत्त्वाकांक्षी विद्यार्थियों की सहायता कर सकती हैं।

(१०) सूचना-केन्द्र

यह बहुत आवश्यक है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय एक सूचना केन्द्र खोले जहाँ पर प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार की छात्रवृत्ति, कॉमनवेल्थ तथा अन्य देशों की छात्रवृत्तियाँ विद्यार्थियों के लिए खोले जाने वाले विविध प्रकार के अध्ययन की व्यवस्था, यात्रा व्यय तथा इसी प्रकार की अन्य सभी सूचनाएँ मिल सकें।

(११) यात्रा-व्यय

अनुसंधान को एक विलास का काम समझा जाता है जिससे कुछ थोड़े से लोग ही लाभ उठा सकते हैं। लेकिन यह कहना कि जो लोग आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हैं केवल वही अनुसंधान कार्य में प्रवृत्त हों इसमें कोई अर्थ नहीं है। यात्रा व्यय प्राय निर्धन और प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थियों को ही दिया जाता है जिसे वे इस प्रकार के व्ययशील और अनार्थिक काम में लगा सकें। इस प्रकार केवल योग्य छात्रों को ही उनकी सामग्री-संकलन के हेतु यात्रा-व्यय दिया जाना वांछनीय है।

१६ विषय का निर्वाचन और उसके पश्चात्

जब विषय का निर्वाचन हो जाता है तब सबसे पहले उस विषय के लिए ग्रथ-सूची और आलेख तैयार करना आवश्यक है। पुस्तक-सूची तैयार करते समय, पुस्तक का शीर्षक, उसके लेखक का नाम, प्रकाशक का नाम और पता, प्रकाशन तिथि, सस्करण और शोध-प्रबन्ध में प्रयोग किये जाने वाले अशो की सावधानी के साथ टिप्पणी ले लेनी चाहिए। आपको अपने शोध-प्रबन्ध में पुस्तक सूची देने की जरूरत पडती है और इसको प्रबन्ध का अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य परिशिष्ट समझा जाता है। बहुत से विद्यार्थी उन पुस्तको का नाम देकर अपनी पुस्तक-सूची का आकार बढा देते है जिन्हें वे कभी देख या पढ भी नही पाते है। मुझे एक ऐसे विद्यार्थी का उदाहरण मालूम है जिसका शोध-प्रबन्ध गलत पुस्तक-सूची देने के ही कारण अस्वीकृत कर दिया गया। इसलिए आरभ से ही पुस्तक-सूची को ठीक-ठीक बनाने की सावधानी रखनी चाहिये।

२० टिप्पणी लेने की पद्धति

मैं अपनी ओर से विद्यार्थियो को यह सुझाव देता हूँ कि पढी हुई पुस्तको से टिप्पणी लेने के लिए चिटो का प्रयोग करें। प्रत्येक छोटे-छोटे विषय के लिए अलग-अलग चिट होनी चाहिए और टिप्पणी लेते समय सावधानी के साथ पुस्तक का सक्षिप्त शीर्षक और पृष्ठ सख्या लिख लेना चाहिए। प्रत्येक चिट पर विषयगत शीर्षक लिखना चाहिए। किसी एक विशेष पुस्तक के अध्ययन को समाप्त कर लेने के पश्चात् वर्णमाला के क्रम से इन चिटो को व्यवस्थित कर देना चाहिए जिसके बाद में उनका प्रसग सरलता पूर्वक ढूढा जा सके। यदि प्रत्येक शीर्षक में एक से अधिक चिटें हो जाती है तो उनको एक साथ मिलाकर और उनके दोनो ओर गत्ते के टुकडे लगाकर सुरक्षापूर्वक बाँध कर रख लेना चाहिए। उनके सिरो पर पुस्तक का नाम भी लिख देना चाहिए। खुले कागजो पर टिप्पणी लेने की प्राचीन-प्रणाली बहुत बेतुकी है और इसमें बार-बार पढे प्रसगो के ढूढने से समय की बरबादी होती है। चिट की प्रणाली अपनाकर जैसे-जैसे आप आगे बढते है आप का शोध-प्रबन्ध तैयार होता जाता है। और विषयगत शीर्षक के अन्तर्गत आपको बहुत से उपकरण विषय पर लिखने के लिए मिल जाते है। इसके बाद आप को उस चिट की सामग्री को विधिवत क्रमानुसार व्यवस्थित करना और फिर उनको अध्ययन कर विषय के क्रम से शोध-प्रबन्ध लिखना ही शेष रह जाता है।

२१ व्यक्तिगत परिश्रम का महत्व

बहुत से उच्चकोटि के विद्वान अपने अनुसधान के लिए नकल करने का काम और इसी प्रकार के अन्य क्लर्की के काम को अपमानजनक समझते है। वे दूसरो को सामग्री-सकलन के लिए इस काम में लगाते है और तब फिर शोध-प्रबन्ध लिखते है। लेकिन काम में लगे हुए व्यक्ति के विश्वसनीय और प्रामाणिक होते हुए भी ऐसे कामो में प्रतिपाद्य विषय में सुसम्बद्ध एकरूपता का अभाव रहता है। उसमें एक प्रकार की कृत्रिमता आ जाती है और उसकी आत्मा लुप्त हो जाती है। काम को अपने आप करने से हमें अपने विषय के आधार का पूर्ण विश्वास रहता है। जो कुछ हमने छोड दिया है

या ग्रहण किया है उसका हमें ज्ञान रहता है और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि जब नकल करने का काम अनवरत होता रहता है तो उस समय हमारे मस्तिष्क में मनजात रूप से बहुत से विचार उठते रहते हैं जो बहुत ही मूल्यवान होते हैं। म कुछ और आगे बढ़कर यह कहना चाहूंगा कि इन विचारों को भी अवसर से नोट कर लेना चाहिए जिनका फिर सामग्री संकलन करते समय या शोध प्रबन्ध लिखते समय उपयोग करना चाहिए। वतनिक सहायक के द्वारा किया हुआ काम बहुधा अविश्वसनीय अप्रामाणिक और सामान्य स्तर का होता है। इसी कारण महामहोपाध्याय डा पी वी काणे ने अपने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (History of Dherma Shastra) के प्रसंगों का निरीक्षण करने के लिए स्वयं १ से भी अधिक प्रसंगों को देखा और उसको मौलिक कृति के साथ बहुत ही धीरता पूर्वक मिलाया। इस प्रकार का व्यक्तिगत सर्वेक्षण कार्य के महत्व को बहुत बढ़ा देता है।

२२ ग्रंथ का पूर्ण अध्ययन

यदि अनुसंधान किसी ग्रंथ विशेष तक ही सीमित है तो कई बार गहन गंभीर और पूर्ण अध्ययन करना अत्यन्त लाभदायक है। प्रत्येक बार नये अध्ययन में आपको कुछ नये विचार मिलेंगे जिनसे आपके प्रतिपाद्य विषय में गहराई आती है।

२३ शोध-प्रबन्ध का लिखना

जब सामग्री का संकलन पूर्ण हो जाता है हम शोध प्रबन्ध के लिखने की बात सोच सकते हैं। नयी सामग्री को प्राप्त करने की कठिनाइयाँ तो सर्वदा बनी रहेंगी। इसलिए इस विषय में अपने निर्देशक से परामर्श कर लेना ही अच्छा रहेगा। कुछ एसे भी छात्र होते हैं जो अपने निर्देशक या परामर्श के लिए दूसरे विद्वानों से भी सहायता लेते हैं। साधारणत ऐसा करने में कोई हानि नहीं है। लेकिन जैसा कि मानव-स्वभाव होता है, ऐसा करने में आपके गुरु जी के अप्रसन्न हो जाने का डर बना रहता है। इसके अतिरिक्त बाहरी विद्वान द्वारा समय-समय पर किए गए चर्चा और निरूपण से आपके मौलिक चिन्तन का आधार अव्यवस्थित हो जाता है। और फिर आप उस बूढ़े आदमी और खच्चर की कहानी की भाँति इधर-उधर दुविधा में भटकते रहेंगे। इस तरह आपके गुरु के प्रति आपकी भक्ति कम हो जाती है और यदि आपके गुरु आप म रुचि नहीं रखते हैं और आपके प्रति उदासीन हैं तो इससे आपको हानि उठानी पड़ती है। इसलिये सोच समझकर अपना गुरु चुनिये दृढ़ता के साथ उनका अनुसरण करिये अपनी समस्याओं और विचारों को निर्भय होकर उनके सामने रखिये और जब भी आपकी प्रगति के मार्ग में कोई बाधा उठ खड़ी हो तो सहायता लीजिए। अपनी लगन और सच्चे कार्य क द्वारा उनकी शुभकामना तथा स्नेह प्राप्त करिये। वह आपको अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सदैव सहायता प्रदान करते रहेंगे।

प्रभातकुमार बनर्जी

पुस्तकालय का उपयोग

जो सज्जन खोज के लिये प्रस्तुत होते हैं, वह सबसे पहले पुस्तकालय मे ही आते है और यह तो मान ही लेना चाहिये कि पुस्तकालय को व्यवहार में लाने की जो प्रणालिया हैं वे उनसे अनभिज्ञ न होगे। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी अनुभव किया है कि पुस्तकालय का पूर्ण रूप से उपयोग करने के लिये जो सामान्य ज्ञान की आवश्यकता होती है, वह बहुधा लोगो में नही होती। इसलिए ग्रन्थागार मे ग्रथो के होते हुये भी लोग अपनी अनभिज्ञता के कारण इधर-उधर भटकते फिरते हैं और अन्त मे पुस्तकालय व पुस्तकाध्यक्ष को कटु शब्द कहते हुये घर चले जाते है। स्वय बहुत दिनो से इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार से लोगो में पुस्तकालय के विषय में जानकारी कराई जावे। जब डाइरेक्टर महोदय का आदेश मिला, मै उसे सहर्ष पालन को प्रस्तुत हो गया, क्योकि मैने समझा कि कदाचित आपके समक्ष उपस्थित होकर यदि मै अपने दो चार शब्दो में आपको कुछ समझा सकूँ तो शायद आपको और पुस्तकालय को कुछ लाभ पहुचे। अस्तु, पुस्तकालय से प्राय लोगो की यही धारणा है कि एक ऐसा स्थान जहा पर पुस्तकें रक्खी हुई है। तर्क की दृष्टि से यह सज्ञा ठीक ही बैठती है, परन्तु विचार पूर्वक देखने पर हमें यही प्रतीत होगा कि ग्रन्थागार केवल ग्रथो की समष्टि मात्र ही नही है। यदि ऐसा ही होता तो पुस्तकालय और किसी पुस्तक-विक्रेता के भडार में कोई बहुत अन्तर नही होता। इसलिये हमको कोई दूसरी सज्ञा खोजने की चेष्टा करनी पडेगी। मै अपनी स्थूल दृष्टि से तथा अनुभव से पुस्तकलय को एक सस्था-मात्र ही नही समझता। पुस्तकलय वही है जहा पर प्रत्येक अन्वेषक को अपनी आवश्यकतानुसार और प्रयोजन सबधी सारी आवश्यक सामग्री उपलब्ध हो और जहा पहुँच कर अन्वेषक एक भिन्न वातावरण अनुभव करे और अपने कार्य में दत्तचित्त होने का अवसर प्राप्त हो। पुस्तकालय में विभिन्न विषयो की पुस्तकें एक विशेष रीति से रखी जाती हैं और पाठक वर्ग को उस रीति का सामान्य ज्ञान होना चाहिये। इसी को पुस्तकालय विज्ञान की भाषा में वर्गीकरण (Classification) कहते हैं। इस विषय में आगे विस्तार पूर्वक आलोचना की जावेगी। इस समय मै आपको पहले पुस्तक-सग्रह की विविध प्रणा-लियो के ऊपर कुछ बताऊँगा।

जिस समय पुस्तकाध्यक्ष अपने पुस्तकालय के लिये पुस्तक-संग्रह करता है, वह सबसे पहले इस विषय को ध्यान में रखता है कि जो भी पुस्तकें का क्रय हो उनकी वास्तविक आवश्यकता है या नहीं। ऐसे तो प्रतिदिन सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित होती हैं किन्तु सभी को पुस्तक कहना अनुचित होगा। बहुत सी पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनका आवेदन बहुत ही अधिक होता है। और इनके विषय में बहुत थोड़े दिनों में ही हम लोग भूल जाते हैं। इसलिये एक बड़े ग्रंथागार में केवल उन्हीं पुस्तकों का स्थान होना चाहिये जिनकी विषय-वस्तु गम्भीर हो तथा जिनके उपयोग से वर्तमान तथा भविष्य के पाठकों का उपकार हो। यह एक अत्यन्त कठिन काम है क्योंकि बहुत सी पुस्तकों की उपयोगिता तत्काल ही ज्ञात नहीं होती। सम्भव है आज जिसको हम बहुत ही तुच्छ समझते हैं, आगामी पांच वर्ष में उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाय और लोगों को उस विषय में उत्सुकता हो। इसलिये पुस्तक-संग्रह का पहला नियम यह होना चाहिये कि विषय वस्तु का उपयुक्त निर्वाचन हो। फिर जिन जिन लेखकों ने ज्ञान विज्ञान तथा विभिन्न शाखाओं में प्रमुख ख्याति प्राप्ति की है उनको रचनाओं का सारा संग्रह पुस्तकालय में होना चाहिये। तृतीयत पुस्तकाध्यक्ष को यह ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि उनके विश्वविद्यालय व विद्यापीठ में किन विषयों पर खोज की जा रही है। उन्हें नवीन विचार धाराओं से पूर्ण रूप से परिचित होना चाहिये और प्रमुख अध्यापकों तथा विशेषज्ञों के साथ सम्पर्क स्थापित करके उनके कथनानुसार कार्य करना चाहिये। यह कार्य जितना सरल शब्दों में कहा गया है उतना सरल नहीं है। इसमें प्रबंधकारिणी की सब तरफ से सहायता मिलनी चाहिये। और जब तक विश्वविद्यालय में सभी अध्यापक वर्ग सहयोग नहीं देंगे तब तक इस विषय में सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

अब मैं आपको पुस्तकों के वर्गीकरण के बारे में जो कि हमारा मुख्य कार्य है निवेदन करना चाहूंगा। हमारे इस प्राचीन देश में पुस्तकालय कोई नवीन वस्तु नहीं है। नालन्दा तथा तक्षशिला की बात तो छोड़ दीजिये। भारतवर्ष में सभी समय पुस्तक संग्रह की रुचि सभी वर्गों के लोगों में पाई गई है। स्थान काल तथा पात्र के भेद से संग्रह में कुछ अन्तर अवश्य ही आ गया है। परन्तु मूल नीतियों में कोई विशेष पार्थक्य दिखाई नहीं देता। वर्तमान-कालीन यूरोपीय सभ्यता ने हमको पुस्तकों के सरक्षण तथा वर्गीकरण में कुछ नवीन ढंग सिखाया है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमारे यहां पुस्तक सजाने की रीति कुछ थी ही नहीं। जो कुछ भी हो हम लोगों ने समय को देखते हुए तथा युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कुछ नवीन शैलियां अपनाई हैं और इसी क्रम से हमारे देश में पुस्तकों का वर्गीकरण होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के शेष भाग में अमेरिका में मलविल डयूई नाम के एक सज्जन हुये। उन्होंने प्राचीन रीतियों को त्याग कर एक नई प्रणाली निकाली। उन्होंने समस्त ज्ञान भंडार को दस बड़े विभागों में विभाजित किया और प्रत्येक भाग का दार्शनिक रीति से आगे और विभाजित किया। इस प्रकार सब मिलाकर कुल सौ विभागों में मनुष्य के ज्ञान भंडार को बांटा। उदाहरण स्वरूप उनको यहां दिया जाता है।

000 General
100 Philosophy
200 Religion
300 Social science
400 Philology
500 Pure science
600 Applied Arts
700 Fine Arts
800 Literature
900 History

510 Maths
520 Astronomy
530 Physics
540 Chemistry
550 Geology
560 Paleontology
570 Biology
580 Botany
590 Zoology

इससे आपको विदित हो जायगा कि पुस्तको के वर्गीकरण मे मुख्य वस्तु उसका विषय है। जो पुस्तक जिस विषय में आती है, उसको उसी विषय में रखा जाता है और दाशमिक रीति से उसमें अंक डाले जाते हैं। वही अंक उस पुस्तक का विषय नम्बर हो जाता है। फिर लेखक के नामानुसार आद्याक्षर लिया जाता है और एक निश्चित पद्धति के अनुसार उसको सख्या दे दी जाती है। ग्रथ का आदि अक्षर इसके वाद में लगाया जाता है। तब ये पूरी पुस्तक वर्गीकृत होकर उसी विषय की और पुस्तको के साथ ग्रथागार में चली जाती है। इसका आशय यह नही है कि वहाँ पर वह पुस्तक अपनी निजस्वता को खो देती है किन्तु उसका स्थान नियत है और सर्वदा वह उसी स्थान पर रहेगी।

उदाहरण—

1 India—A short cultural History, Rawbinson 934054 R26I
2 Literature of England A D 500-1946- Gillett 8209 G 61 L

उदाहरण—

भारतवर्ष के विभिन्न पुस्तकालयो में ड्यूई की इस दाशमिक प्रणाली को मान लिया गया है परन्तु इसमें कुछ त्रुटियाँ हैं। ड्यूई ने अपने देश के प्रयोजनानुसार इस पद्धति को चलाया था किन्तु इसमें हमारे प्रयोजन की वस्तुओ का अभाव है, उदाहरण —

Indian Philosophy, 181 4 Religion etc

Indian History 934, 954

इन सब विषयो के वारे में नाम-मात्र का उल्लेख है और यदि इनको इसी ढंग से ही रखा जावे तो हमारे कार्य में बहुत सी असुविधायें उपस्थित हो जाती हैं।

वेदान्त के साथ चार वाक दर्शन

साम्ख्य के साथ शैव और चन्द्रगुप्त के साथ जहागीर का होना बहुत ही सम्भव है। इसलिए भारतीय विद्वानो ने इस प्रणाली में बहुत कुछ हेर फेर कर दिया है। श्री रगानाथन जी ने तो अपनी एक नवीन वर्गीकरण पद्धति का आविष्कार कर दिया है, परन्तु प्रयोगात्मक

कठिनाइयों के कारण इस प्रणाली का व्यवहार समुचित रूप से नहीं हो पाया है। अपने प्रयोजन को देखते हुए आगरा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में हम लोगों ने हिन्दी तथा संस्कृत पुस्तकों को यूरोपीय भाषाओं में लिखी हुई पुस्तकों से अलग कर दिया है और उनका ड्यूई प्रणाली के मूल नीतियों को लेकर एक दूसरी पद्धति में वर्गीकरण किया है उदाहरण—

	साधारण	५	विज्ञान	८१ कविता	८२ नाटक
१	दर्शन	६	व्यावहारिक शिल्प	८३ उपन्यास	८४ गद्य
२	बोध धर्म	७	कला	८१ १ आदिकाल	८१ २ वीर
३	समाज-शास्त्र	८	साहित्य	गाथाकाल	८१ २१ भक्ति-काल
४	भाषा शास्त्र	९	इतिहास	८१ ३ रीतिकाल	८१ ४ १७७२ १८१७
				८१ ५ वर्तमान काल	

ज्यों-ज्यों पुस्तकालय में पुस्तकों की संख्या बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उनको खोजना कठिन होता चला जाता है। इसलिये प्रारम्भ से ही पुस्तकालय में कोई न कोई तालिका प्रस्तुत की जाती है ताकि देखने वाले सरलता से अपनी आवश्यकतानुसार अपनी पुस्तकों का निर्वाचन कर सकें। सबसे पहले पुस्तकों को लेखकों के अनुसार रखा जाता था और उनकी एक लिखित सूची प्रस्तुत की जाती थी किन्तु ज्यों ज्यों ज्ञान-विज्ञान का विस्तार होता गया और पुस्तकों की संख्या में बहुत वृद्धि होती गई, त्यों त्यों यह प्रणाली असफल होती गई। वर्तमान काल में जब पुस्तक का वर्गीकरण विषयानुसार किया जाता है तब इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई कि पाठकों को शीघ्रातिशीघ्र पुस्तकों के बारे में सूचना मिले-तभी कार्ड प्रणाली का उद्भव हुआ। साधारणतः प्रत्येक पुस्तक के चार कार्ड प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रथम (Author card) या लेखक के नामानुसार एक कार्ड पर पुस्तक के विषय में सारा विवरण यथा पुस्तक का नाम Title प्रकाशक, प्रकाशन तिथि तथा संस्करण इत्यादि सब कुछ लिखा रहता है। इसी तरह से दूसरा कार्ड पुस्तक के Title के अनुसार प्रस्तुत किया जाता है। तीसरा कार्ड विषय के अनुसार बनता है और उनको उसी तरह से रखा जाता है जिस तरह से पुस्तकें पुस्तकागार में रखी हुई हैं। चौथा कार्ड जिसको कि बुक कार्ड कहते हैं पुस्तक के अन्दर ही रखा रहता है और वह जिस समय पुस्तक पाठक के पास चली जाती है तब पुस्तकालय में उसका प्रतिनिधित्व करता है और उसी के सहारे इस बात को हम बतला सकते हैं कि पुस्तक किसके पास है कि किस दिन वह पुस्तकालय के बाहर गई है और कौन से दिन वह वापिस आयेगी। पुस्तकालय में पुस्तक निर्वाचन के लिये Cataloguing का सहारा लेना अत्यन्त आवश्यक है। कोई भी मनुष्य पुस्तकालय का सारा संग्रह याद नहीं रख सकता। हम यह मान लेते हैं कि जो कोई भी मनुष्य पुस्तकालय में आवे वह या तो लेखक के नाम से परिचित हो या उसकी कृतियों से जानकारी रखता हो। इस कारण यदि वह Author या Title catalogues को देख तो उसको ज्ञात हो जायेगा कि पुस्तकालय में वह पुस्तक है या नहीं। Author और Title catalogues का विन्यास कोष की भाँति किया हुआ होता है। इसीलिये वर्णों के क्रमानुसार उसे देखने में कोई भी कठिनाई नहीं होनी चाहिये।

Classified या विषयानुसार Catalogue हमको यह वताता है कि किस-किस विपय में कितनी पुस्तकें एक पुस्तकालय में है ।

साधारणत जो कठिनाइयाँ पाठक वर्ग को होती है, वह पुस्तकालय की वर्गीकरण प्रणाली तथा Catalogue सूची के विन्यास से अनभिज्ञता के कारण होनी है । एक वार यदि पुस्तकालय के व्यवहार कार्यो का साधारण तौर से ज्ञान हो जावे तो कोई कारण नही है कि उन्हे पुस्तक निर्वाचन में कोई कठिनाई हो । कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि कोई पाठक किमी विशेष पुस्तक को अपनी चिन्तानुसार स्थान में खोज रहा है किन्तु पुस्तकालय की प्रणाली दूसरी होने के कारण उसको पुस्तक के होते हुये भी नही मिल पाती । उदाहरण स्वरूप राजनीति के छात्र समाजवाद, साम्यवाद और तत्सम्वन्धी पुस्तको को राजनीति विभाग में खोजते है किन्तु उन्हे यदि यह ज्ञात होता कि पुस्तकालय की वर्गीकरण पद्धति के अनुसार इन विपयो को अर्थशास्त्र सम्वन्धी पुस्तको के साथ देखा जावे तो उन्हें वे सरलता से प्राप्त हो जावेगी । उसी प्रकार से मनोविज्ञान तथा और भी प्रयोगात्मक विपयो का स्थान पुस्तकालय के नियमानुसार निश्चत स्थान पर ही किया जाता है । यद्यपि यह विपय शिक्षा, व्यवसाय, समाज शास्त्र तथा अन्यान्य विपयो के साथ जडित है । इस कारण से जो भी पाठक पुस्तकालय में आवें उनको चाहिये कि वे सर्वप्रथम Catalogue को देखे । उसमें अगर कुछ कठिनाई हो तो पुस्तकालय के कार्यकर्ताओ से सहायता मॉगें । वे सर्वथा उनको सहायता करने के लिये प्रस्तुत है और यदि कोई समस्या और उपस्थित होती हो तो पुस्तकाध्यक्ष को सूचित कर देना चाहिये और वह यथा साध्य आपकी सेवा करने के लिये प्रस्तुत रहेगा ।

पुस्तकालय के कार्य को सुचारु रूप से करने के लिये विभिन्न विभागो में उसका कार्य वितरित कर दिया गया है और इन विभागो के विपय में यदि सक्षेप मे कहा जाय तो वह अप्रासगिक नही होगा । प्रत्येक पुस्तकालय में साधारणत ३ विभाग होते हैं । वह क्रमश यह है —

(१) आर्डर सैक्सन—

इस विभाग का कार्य पुस्तको का निर्वाचन तथा उनको प्राप्त करने के विपय में अनुसधान करना है । जो सूचियाँ अध्यापकगण तथा अन्य पाठक वर्ग पुस्तकाध्यक्ष के पास भेजते है, उनमें वहुधा पुस्तको के विषय में विस्तरित विवरण नही होता । उदाहरणार्थ एक विषय का उल्लेख मैं कर रहा हूँ, कुछ दिन पूर्व आगरे के एक प्रसिद्ध विद्वान ने अर्थशास्त्र सवधी पुस्तको की सूची भेजी । उस सूची में लगभग साढे चार सौ पुस्तको का उल्लेख था, किन्तु उनके प्रकाशक, मूल्य तथा सस्करण के वारे में कुछ भी सूचना नही दी हुई थी । लेखकों के नाम भी वहुत क्षेत्रो में सम्पूर्ण नही थे । इस कारणवश हम लोगो को उसी सूची के अनुसार पुस्तक उपलव्व करने में वहुत कुछ कठिनाइया हुई और कुछ समय भी अधिक व्यय हुआ । जव कभी भी ऐसी समस्याएँ उपस्थित होती है तव उनको सुलझाना पडता है और वहुत अनुसधान के वाद ही हम लोग पुस्तक के विपय में सारी जानकारी प्राप्त कर सकते है । जव तक पुस्तकों का विशद विवरण न दिया जाय, तव तक विक्रेता उन्हे सरलता से

नहीं प्राप्त कर सकते तथा समय से पुस्तकालय में भी नहीं आ पाती। इसी प्रकार कभी कभी अध्यापकगण ऐसी पुस्तकों की सूची भेजते हैं जो दुष्प्राप्य हैं और पुस्तक-व्यवसायी वर्ग उनकी उपलब्धता को कठिन जानकर मनचाही मूल्य मांगते हैं। इस अवस्था में हमारे सामने एक कठिन समस्या आ जाती है। यदि हम उस मूल्य को प्रस्तुत न हों तो बहुत सम्भव है कि ऐसे दुर्लभ ग्रंथ फिर हमें न मिल सकें। और यदि हमने उसका मूल्य मनचाहा दे दिया तो लेखा-परीक्षक आपत्ति उठाते हैं। इन परिस्थितियों में साधारणतः हम लोगों को कुछ विवेचना से कामचलाऊ होना पड़ता है तथा उन्हीं के मतानुसार पुस्तकों का मूल्य स्थिरकृत होता है। कुछ दिन पहले एक अत्यन्त दुष्प्राप्य ग्रन्थ की प्रतियाँ जिसका नाम वाचस्पत्यम् है हमारे हाथ लगा। पुस्तक विक्रता ने कुछ अधिक मांगा। और समय को देखते हुए तथा पुस्तक की दुष्प्राप्यता को ध्यान में रखते हुए वही मूल्य चुकाना पड़ा। किन्तु लेखा परीक्षक ने उस विषय में आपत्ति की है तथा मामला अभी तक नहीं सुलझा है।

इन सब उदाहरणों को देने का अभिप्राय केवल यही है कि आप लोग हमारी कठिनाइयों को कुछ थोड़ा बहुत अनुभव करने की चेष्टा कर तथा पुस्तकों को प्राप्त करने में कभी-कभी जो विलम्ब हो जाता है उसको समझने की कृपा करें।

प्रत्येक पुस्तकाध्यक्ष की यह इच्छा होती है कि पाठक वर्ग सन्तुष्ट रहें। वह यथा साध्य चेष्टा करता है परन्तु कुछ परिस्थितियाँ पुस्तकों को उपलब्ध करने में ऐसी होती हैं जिसके ऊपर उसका वश नहीं चलता।

(२) पुस्तकालय में पुस्तक आ जाने के बाद cataloguing विभाग में पुस्तक आती है। वहाँ उसकी पूरी जाँच होती है तब उसके कार्ड इत्यादि बनकर तथा वर्गीकरण के पश्चात् ग्रन्थागार में भेज दिया जाता है। यह प्रणाली यथेष्ट बड़ी है और यह बहुत ही टेकनीकल है और इस कारण उसका वर्णन आपके सामने नहीं करना चाहता हूँ।

(३) अब पाठक वर्ग के सामने पुस्तक उपस्थित हो जाती है और वे उसको अपने व्यवहार में ला सकते हैं। catalogue को देखकर उसका वर्गीकरण नम्बर लिखकर जैसा कि पहले बताया जा चुका है आदान प्रदान विभाग को दे दीजिये। वे पुस्तक को आपकी सेवा में उपस्थित कर देंगे। यदि वह पुस्तक किसी दूसरे सज्जन के पास है तो ये सूचना भी आपको वहीं दे दी जायेगी। कभी कभी ऐसा भी होता है कि जिस क्रम से पुस्तक रखी जानी चाहिए, वह क्रम असवधा टूट जाता है और पुस्तक मिलने में कठिनाई हो जाती है। ऐसी स्थिति में आपको चाहिये कि आप आदान प्रदान विभाग को सूचित करें और यदि सम्भव हो तो कभी-कभी स्वयं भी थोड़ा कष्ट करके पुस्तकाध्यक्ष को बतायें। आदान प्रदान विभाग में सूचना देते समय इस बात का ध्यान रखा जावे कि जब कभी आप पुस्तक का नम्बर लिखें वह ठीक वैसा ही हो जैसा कि कार्ड में लिखा हुआ है। यदि इसमें कोई अशुद्धि हुई तो पुस्तक मिलने में कठिनता हो सकती है। उसी तरह से लेखक का नाम पुस्तक का Title लिखने में कोई अशुद्धि नहीं होनी चाहिये।

(४) हमारे देश में पुस्तकालय में बैठकर पढने की प्रवृत्ति बहुत ही कम पाई जाती है किन्तु यदि सोचा जाय तो आप लोग हमसे सहमत होंगे कि पुस्तकालय में बैठकर पढने में सुविधा है। घरो में बहुधा बढने का उपयुक्त वातावरण नही होता और न पढाई का क्रम ही बनता है। मित्रवर्ग कभी न कभी आ जाते हैं तथा गृह-कार्य बाधा उपस्थित कर देते हैं। बहुधा ऐसा भी होता कि जो पुस्तक हम पाठागार से लाते हैं उसको आलस्यवश कई दिन तक देखने का अवसर ही नही होता। और पुस्तको को लेते समय जिन विषयो के बारे में हमने सोचा था वह भी ध्यान से उतर जाते हैं। एक और भी दायित्व पुस्तक व्यवहार करने वाले पर आ पडता है। वह यह कि यदि आप किसी पुस्तक को अधिक समय तक अपने पास रख लेते हैं तो दूसरे व्यक्ति उससे लाभ उठाने से वचित हो जाते हैं। अत सब का यह कर्त्तव्य है कि पुस्तक को यथासम्भव शीघ्र लौटाने की चेष्टा करें और ऐसा करने से पुस्तकालय के सचालन करने में बहुत कुछ सरलता आ जाती है। पुस्तकालय में कुछ ऐसी पुस्तकें हैं जो अपनी दुष्प्राप्यता के कारण तथा कुछ अन्य कारणो से पुस्तकालय से बाहर नहीं जा सकती तथा उनके पढने का एक मात्र साधन पुस्तकालय का पाठागार ही है, वहा का शान्त वातावरण तथा उपयुक्त व्यवस्थाएँ आपके पठन-पाठन से सहयोगी बनता है। और आपको उसका पूर्ण सुयोग लेना चाहिये।

अब तक मैं आपसे पुस्तकालय के विभिन्न विभागो का तथा वहाँ से उपलब्ध सेवाओ के विषय में कुछ निवेदन कर रहा था। अब मैं आप लोगो को पुस्तकालय में खोज सबधी प्रमुख आवश्यक पुस्तको को बतलाने की चेष्टा करूगा जिनसे आप के कार्य मे सहायता पहुँचे।

अन्वेषको को बहुधा कोष तथा ऐसी दूसरी पुस्तको की सहायता लेनी पडती है जिनमें मनुष्य की ज्ञान-विज्ञान सबधी विविध सूचनाऐ दी हुई होती हैं। इन सब में Encyclopaedia Britanica का नाम सब से पहले उल्लेखनीय है। इनमें जिन विषयो का वर्णन होता है वह बहुत ही आधुनिक तथा पूर्ण होता है। उन्ही के आधार पर अन्वेषक को खोज सबधी विषयो मे सहायता मिलती है। इसी प्रकार से Encyclopaedia Americana तथा Annual Register भी हैं जो कि इतिहास, राजनीतिक घटनाएँ, विज्ञान, साहित्य तथा कला के विषय में तथ्यपूर्ण सूचनाएँ देते हैं। हमारे ग्रन्थागार में हिन्दी का एक-मात्र विश्वकोष हिन्दी विश्वकोष है। यह सभी अन्वेषको के लिये अत्यन्त कार्यकारी सिद्ध हुआ है।

एक अन्य सहायक पुस्तक समष्टि Bibliography है। इनसे हम विभिन्न विषयो की खोज लगा सकते हैं और इनकी सहायता से हमे अपनी सूची प्रस्तुत करने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। भारतवर्ष का राष्ट्रीय पुस्तकालय तथा Cumulative Book Index हमें इस दिशा में बहुत कुछ मदद करते हैं। National Library की सूची अब सभी भाषाओ की पुस्तको में प्रस्तुत की जा रही है और जिस समय Indian National Bibliography बन जायगी तब हमें भारतवर्ष में प्रकाशित पुस्तको की यथेष्ट जानकारी हो जावेगी।

Cumulative Book Index में सन् १८९८ से लेकर वर्तमान काल तक की जितनी भी पुस्तकें अंग्रेजी भाषा में छप चुकी हैं उन सबका विवरण दिया हुआ है। प्रत्येक मास इनके पूरक अंक निकलते हैं और हर साल इसका नया अंक प्रकाशित किया जाता है।

साम्प्रतिक घटनाओं के विषय में यदि कोई सूचना प्राप्त करनी है तो आपको Keesings Contemporary Archives तथा Asian Recorder को देखना चाहिये। इनमें प्रत्येक देश की विशद् घटनाओं का विवरण है और प्रत्येक पखवारे में इसका अंक आ जाता है। साम्प्रतिक घटनाओं के विवरण के लिये तथा उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए इनसे अधिक और कोई सहायक पुस्तक नहीं है। व्यक्ति-विशेष की जानकारी के लिये Year Book या अन्य कोष की सहायता लेनी पड़ती है। इनमें प्रत्येक देश का संक्षिप्त विवरण होता है तथा साथ में मानचित्र भी दिया रहता है। किसी भी देश के आर्थिक राजनैतिक तथा व्यावसायिक विषयों का इनमें उल्लेख रहता है। और इनसे सभा को यथेष्ट सहायता मिलती रहती है। अन्वेषकों को विशेष सहायता सामयिक पत्रिकाओं से बहुत कुछ मिल जाती है। पत्रिकाओं का पुस्तकागार में एक विशेष स्थान है। इनमें समय समय पर बहुत से विद्वत्तापूर्ण लेख छपते हैं और इनसे गवेषकों को बहुत कुछ सहायता मिलती है। इन लेखों में मूल समस्याओं के विषयों में आभास दिया जाता है और क्योंकि ये विशेषज्ञों के लिखे हुये होते हैं इसलिये अन्वेषकों को अपने कार्य में बहुत कुछ सुविधा हो जाती है। पुस्तकालय में पत्रिकाओं का संग्रह करना एक विशेष कार्य है और कोई ग्रन्थागार इनकी अवहेलना की दृष्टि से नहीं देख सकता। पुरानी पत्रिकाओं की फाइलें एकत्रित करके वर्ष के अनुसार जिल्द (Binding) करवा दी जाती है। इनके अतिरिक्त और भी सहायक पुस्तकें हैं जिनके विषय में कहकर मैं आपके धैर्य की परीक्षा नहीं लेना चाहता। यदि आप पुस्तकालय में आने का कष्ट करें तो उनके विषय में मैं आपको वहीं बतलाऊंगा।

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही ज्ञान-विज्ञान के लिये प्रसिद्ध रहा है। हमारा यह देश, जिस समय पृथ्वी का और भाग अधकार की कालिमा में छिपा हुआ था, ज्ञान-विज्ञान की गरिमा से आलोकित रहा। यह हमारे अत्यन्त गर्व की वात है कि तीन हजार वर्ष पहले भी हमारे देश में पुस्तकालय का आयोजन था। पर काल के कठोर प्रहार से हमारे वे गौरवमय दिन चले गये और भारतवर्ष के ऊपर बहुत सी आपत्तियाँ समय-समय पर आती रही। राजनीतिक उथल-पुथल, वैदेशिक आक्रमण तथा तदानुसगिक विप्लव से देश को वहुत ही क्षति पहुँची। कुछ दिनो के लिये हम अपनी सारी सत्ता ही खो वैठे। देश के ऊपर एक विदेशी सत्ता ने दो सौ वर्ष तक शासन किया और उनकी चेष्टा यही रही कि भारत में प्रगति न हो। किन्तु युग-धर्म को रोकना उनके साध्य के वाहर था। १८ वी शताव्दी के शेष भाग से सारे विश्व में जो नई जागृति की लहर दौडी, भारत भी उससे वहुत प्रभावित रहा, यद्यपि हमारे देश में विभिन्न राजनैतिक तथा सामाजिक कारणो से इसका प्रभाव कुछ विलब से अनुभूत हुआ। ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयो में व्युत्पत्ति करने की जो तीव्र आकांक्षा देशवासियो ने अनुभव की उसको रोकने की शक्ति शासक वर्ग में नही थी और धीरे-धीरे भारत में ५ भांति-भांति के स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय स्थापित होते चले गये। कुछ लोग विदेशो में भी शिक्षा प्राप्त करने लगे तथा विदेशी ढग को अपनाया गया, इससे कुछ हानि अवश्य हुई परन्तु लाभ भी बहुत कुछ हुआ। हम लोगो ने यह जान लिया कि हमारी दीन-अवस्था के लिये विदेशी शासक वर्गों को दोषी न कर तथा उनकी त्रुटियों की आलोचना करने से ही काम नही चलेगा। हमें आत्मोन्नति के लिये कठोर परिश्रम तथा त्याग करना पडेगा और इस दिशा में पहला उद्यम देश में ज्ञान-वितरण करना प्रथम समझा गया।

देश में शिक्षा-वितरण करने का प्रथम स्तर केवल विद्यालयो के उद्‌घाटन से ही पूरा नही हो जाता यह सत्य हमारे देश के चितानायको ने अनुभव किया और इसीलिए पाश्चात्य ढग से पाठागणो की भी स्थापना स्थान-स्थान पर होने लगी। प्रारभ में इसके विषय में कोई भी पूर्व परिकल्पना नही थी, जहाँ कही भी लोगो को सुविधा मिली उन्होने सार्वजनिक ग्रथागारो की स्थापना की किन्तु उस समय हमारे देश में प्रकाशित ग्रथो की सख्या वहुत ही नगण्य थी और वहुधा लोग विदेशी भाषा ही से अपनी ज्ञान-पिपासा निवृत्त करते थे पर कुछ समय पश्चात जव देशी भाषायें उन्नति करने लगी और इनमें लिखकर वहुत से लेखको ने अंतरजातीय ख्याति भी प्राप्त की तव देशवासियो का ध्यान इस ओर और भी आकर्षित हुआ। नवप्रभात की सूचना में जैसे चारो तरफ सहसा विभिन्न प्रकार के पक्षी कूजन करने लग जाते है उसी भाँति भारत के सभी भागो में शक्तिशाली कवि,

उपन्यासकार, नाटककार तथा अन्यान्य साहित्यकारों का जन्म हुआ और वे अपनी प्रतिभा के देदीप्यमान आलोक से चारों दिशाओं को आलोकित करने लगे। जब पुस्तकों की समस्या दूर हुई तब अपने आप उन्हें उचित ढंग से संग्रह करने का प्रयोजन भी अनुभव किया गया। किन्तु सबसे बड़ी कठिनाई जो हमारे सामने आई वह पुस्तकों के संग्रह करने की विधि में पाई गई। विदेशी शासक इस विषय में पूर्ण उदासीन थे और इन पुस्तकागारों को सर्वदा सदेह की दृष्टि से देखते थे पर उनमें से एक ऐसा सज्जन निकला जिसने एक महत् कार्य किया। लार्ड कर्जन को हम देश में विभाग लाने वाला तथा कट्टर साम्राज्यवादी के रूप से ही जानते हैं पर इन सब अवगुणों के होते हुए भी लार्ड कर्जन ने देश की सांस्कृतिक उन्नति में थोड़ा बहुत हाथ बटाया था। उसी की प्रेरणा से हमारे देश में पुरातत्व विभाग की स्थापना हुई और पहले पहल Imperial Library का शिलान्यास किया गया। सन् १९ २ में एक सार्वजनिक पाठागार को राजकीय मान्यता प्राप्त हुई और Imperial library को केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता दी जाने लगी। पर लार्ड कर्जन के चले जाने के पश्चात ही इसकी ओर से शासक वर्गों का ध्यान हट गया तथा इसकी सहायता भी कम करदी गई। Imperial library ने कुछ बुरे दिन भी देखे पर सौभाग्यवश कुछ प्रसिद्ध विद्वान इसके कर्णधार स्वरूप रहे और उन्होंने अपने प्रयत्नों से इसको उन्नतिशील बनाये रखने का प्रयास किया। इनमें से हरिनाथ दे और आशातुल्ला साहब का नाम उल्लेखनीय है। इन दो महानुभावों ने हमारे देश में पाश्चात्य ढंग से पुस्तकागार विज्ञान-संबंधी प्रशिक्षण का भी आयोजन किया और देश में ग्रंथागार प्रोदोलन में एक नये अध्याय का श्रीगणेश हुआ। भारतवर्ष के स्वाधीन होने के पश्चात Imperial library का नाम National Library में परिवर्तित हो गया और कुछ दिनों पश्चात इसे copy right Library भी बना दिया गया जिसका अर्थ यह है कि देश में जितनी भी पुस्तकें प्रकाशित हों उनकी निश्चित प्रतियाँ यहाँ भेजी जाती हैं और इस भाँति वास्तव में यह एक जातीय संपत्ति में परिणित हो गई है। भारतवर्ष की सभी भाषाओं की प्रकाशित पुस्तकों का समावेश यहीं किया जाता है। इस भाँति यहाँ सभी पुस्तकों के बारे में सूचना अवश्य मिल जाती है। हमारे देश के सभी स्थानों के व्यक्ति यहाँ के पुस्तक-संग्रह से लाभ उठाते हैं और यहाँ से विभिन्न प्रांतों में पुस्तक भेजने की भी व्यवस्था है। इस समय यहाँ पर लगभग ८ लाख पुस्तकों का संग्रह है तथा विभिन्न भाषाओं की पुस्तक क्रमानुसार यहाँ रक्खी हुई हैं। इसके उपरान्त यहाँ का Reference Section बहुत ही समृद्ध है और पाठकों के सभी प्रकार के प्रश्नों का उत्तर शीघ्रातिशीघ्र देने का प्रयत्न किया जाता है। हाल ही में Indian National Bibliography प्रकाशित करने की भी योजना पूरी हो चुकी है और इसकी अध्यक्षता में भारतीय संस्कृति तथा मानव विज्ञान की दो प्रामाणिक सूचियाँ (Bibliography) प्रस्तुत की गई है। इन कार्यों को पूर्ण करने के लिये यहाँ पर सभी भाषाओं के प्रतिष्ठित विद्वानों का समावेश किया गया है और यद्यपि इसकी प्रगति कुछ विलंबित है फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि जब यह कार्य पूर्ण हो जायेगा तब एक महान कहलाने का अधिकारी होगा।

इस देश के प्रमुख ग्रथागारो में लोकमभा ग्रथागारो का एक विशिष्ट स्थान है, यद्यपि इसकी स्थापना सन् १९२१ में हुई थी, स्वाधीनता के बाद ही इसने उल्लेखनीय प्रगति की है। यह लोक सभा में ही स्थित है। इसके उपयोग का अग्राधिकार लोकमभा के सदस्यो में ही सीमित है फिर भी अनुमति लेकर भारत का कोई भी नागरिक इसका उपयोग कर सकता है। यह भी एक Copy 11ght lib1ary है किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य भारतोय राजनैतिक पुस्तक-पुस्तिकाओ का सग्रह करना है। पुस्तको का समावेश यहाँ बहुत ही नवीन ढग से किया जाता है और अन्वेपको को सब तरह की सुविधायें दी जाती हैं। सग्रहकर्ताओ की रुचि प्रधानत राजनैतिक तथा प्रशासन सबधी होने के कारण यहाँ पर उन विपयो से सम्बन्धित सारी पुस्तकें, रिपोर्ट्स तथा भारत सरकार द्वारा प्रकाशित विभिन्न पुस्तकें एकत्रित हैं और इन विपयो में खोज करने वालो के लिये यह सर्वोत्तम स्थान है। यहाँ पर वर्तमान ग्रथ-सख्या ३ लाख से भी अधिक है। समाचार पत्रो का सरक्षण यहाँ पर वैज्ञानिक ढग से किया जाता है। प्रमुख समाचार पत्रो के m1crofilm reader प्रस्तुत करने की भी आयोजना है। m1crofilm 1eader की व्यवस्था होने मे लोग सरलता से इसका उपयोग कर सकते हैं। एक research and reference sect1on इमके साथ सयुक्त है जो कि तरह-तरह की समस्याओ के सुलझाने में सहायता देता है। लोक सभा के सदस्य बहुधा सदन में प्रश्नादि पूछा करते हैं और उन प्रश्नो का उत्तर देने के लिये यथेष्ट 1eference सामिग्री यहाँ एकत्रित की गई है। यद्यपि सर्वसाधारण के लिये इसकी सेवा-सुविधा सर्वदा उपलब्ध नही होती फिर भी अन्वेपक यहाँ से कुछ न कुछ लाभ अवश्य ही उठा सकते हैं।

हमारे देश में शिक्षा की प्रगति के साथ-साथ ग्रथगारो का विकास भी पूर्ण रूप से हुआ है। वैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो विश्वविद्यालय से सलग्न ग्रन्थागार ही ग्रथागार कहलाने के योग्य है। जिस ममय विश्वविद्यालयो की स्थापना हुई उस समय ग्रथागारो के विपय में प्रतिष्ठाताओ का अधिक ध्यान नही था। कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रारम्भ में केवल १५०० पुस्तकें थी। किन्तु धीरे-धीरे उस दिशा में यथेष्ट प्रगति की जाने लगी और विश्वविद्यालय के साथ ग्रन्थागार का प्रकृत स्वरूप क्या होना चाहिए, उस विषय में हम लोग ठीक निर्णय पर नही आ पहुँचे। क्या विश्वविद्यालय केवल वहाँ के छात्र तथा अध्यापक वर्ग के अध्ययन में ही सहायक हो या उसका मुख्य ध्येय अन्वेषक को सहायता देता है। यह अभी पूर्ण रूप से निरूपित नही हो पाया है। इस समय भारत में ३८ विश्वविद्यालय हैं और शीघ्र ही ५, ६ और स्थापित हो जायेंगे। U G C के सुयोग्य अध्यक्ष श्री C D Deshmukh महाशय इस विपय में बहुत ही उत्सुक हैं कि प्रत्येक विश्वविद्यालय में ग्रथागार की स्थापना पहले हो और विश्वविद्यालय के कार्यकर्ता उस ओर अधिक से अधिक ध्यान दें। धन की कमी प्राय अब नही है। बहुत से विश्वविद्यालय-पुस्तकालय तो अपने लिये निश्चित धन-राशि को पूर्ण रूप से खर्च भी नही कर पाते। विश्वविद्यालय से सलग्न ग्रथागारो में उत्तर भारत में सब से उल्लेखनीय ग्रन्थागार बनारस विश्वविद्यालय का है। महामना मालवीय जी ने ग्रथागार की उन्नति में बहुत ध्यान दिया था और उन्होने सबसे पूर्व विश्वविद्यालय के ग्रथागार के लिये एक विशेप

यहाँ अति समृद्ध है। Greater India society का मुख्य पत्र यही से निकलता था और डा० बी० सी० लॉ आदि प्रमुख ऐतिहासिक इसके साथ बहुत दिनो से सम्बन्धित रहे और इनको उन्नत बनाने की चेष्टा करते रहे हैं।

हिन्दी पुस्तको के सग्रह के लिये हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके है। दोनो सस्थायें हिन्दी पुस्तको की तथा हस्तलिखित पोथियो के सग्रह में अग्रगण्य है और उनका प्रयत्न सदा यही रहा है कि किन सभाव्य उपायो से हिन्दी का कार्य सरलतापूर्वक चल सके। हिन्दी साहित्य सम्बन्धी कोई भी खोज इन दोनो पुस्तकालयो की सहायता के बिना असम्भव है।

प्रसगतत आपके शहर में चिरजीलाल पुस्तकालय भी छोटा होने पर भी एक अत्यन्त व्यवस्थित ग्रथागार है और निजस्व सग्रह होने पर भी यहाँ पर बहुत अच्छी पुस्तको का समावेश किया गया है।

उदयशङ्कर शास्त्री

हस्तलिखित ग्रंथ और उनका उपयोग

भारतवर्ष में ग्रथो के लिखे जाने की प्रथा कब से आरम्भ हुई यह अभी तक निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता है। यही कारण है कि वेदो को हम आज भी श्रुति के नाम से पुकारते है, तो भी प्राचीनता की दृष्टि से चाणक्य का 'अर्थशास्त्र' अवश्यमेव-लिखित परपरा का ग्रथ है, इसके अतिरिक्त भूर्जपत्र एव ताल पत्र पर लिखी पोथियाँ पाई जाती हैं। भोजपत्र पर लिखी हुई पाई गई प्रतियाँ लगभग १६-१७ सौ वर्ष पुरानी हैं इनमें तालपत्र पर लिखी गई पोथियाँ ११ वी १२ वी शती से मिलने लगी है। अर्थशास्त्र और पाल पोथियो के वीच की अवधि में लिखे गये ग्रथ तो नही मिले है परन्तु उनके जो वर्णन मिले है उनसे विदित होता है कि हिमालय के आस पास के प्रदेशो में भोजपत्र का उपयोग होता था और समतल प्रदेश में ताल पत्र का।

तालपत्र मुख्यतया दो प्रकार का होता था। एक राजताल दूसरा स्वरताल। यह तालपत्र जावा, सुमात्रा आदि देशो से मँगाया जाता था। आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धराज जयसिंह से कहा था, "कि अब मेरे ग्रन्थ स्वरताल पर लिखे जाने लगे हैं, क्योकि राजताल समाप्त हो गया है। इस पर सिद्धराज ने हेमचद्र को राजताल मँगवा दिया था।" इन तालपत्रो पर लिखे गये ग्रन्थ सादे तथा चित्रित दोनो प्रकार के हुआ करते थे। ग्रन्थ को सुरक्षित करने के लिये दोनो ओर लकडी की पटिया लगी रहती थीं। ये पटियें भी वहुधा चित्रित एव बेल बूटो से अलकृत हुआ करती थी। नेपाल से पाई जाने वाली तालपत्र की पोथियाँ प्राय बौद्ध सम्प्रदाय की है और उनमें अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता ही अधिक है। ये पालपोथियाँ पाल राजाओ के राज्य काल में लिखी गई हैं, इसीलिए इन्हें पालपोथियाँ भी कहा जाता है।

जैन ताल पोथियो के चित्र अपभ्रश शैली के है, जिनमें कही-कही प्रतीत होता है कि ये अपनी आरभिक शैली में है पर पाल पोथियो के चित्र निश्चय ही अजन्ता शैली के प्रतीत होते हैं। इन पोथियो के तालपत्र ३ या ४ इच चौडे और १५ से लेकर २० इच तक लम्बे होते है। इन्हें सिलसिलेवार रखने के लिये इनके वीच में आर पार

लिया जाय। इस रोशनाई में कच्चा पानी डालने की प्रथा नही थी, जब रोशनाई गाढी हो जाती थी तो उसे लाख के पकाये हुए रस से हल्की बनाते थे। कोई-कोई इसे खरल करते (घोटते) समय गोद भी डालते थे। जिससे रोशनाई में चमक तो आजाती थी, परन्तु एक वडा दोष भी यह आजाता था कि वरसात में वरसाती हवा के कारण ग्रथ के पत्र चिपक जाते थे, जिन्हें छुडाने में कभी-कभी पृष्ठ के पृष्ठ खराव हो जाते है। ऐसे ग्रथो के पत्र अलग-अलग करने के जिए वलप्रयोग कदापि नही करना चाहिए वरन् ऋजुता से ही काम लेना चाहिए। इस की उत्तम विधि यह है कि एक मटके में पानी भरकर रख दिया जाय, जव वह मटका पानी से विल्कुल सीझ जाय तव उसका पानी निकाल कर फेंक दे और ग्रथ को उसी में लकडी के एक गुटके के ऊपर रख दे और उस मटके का मुँह बन्द करदे। कम से कम चार दिन के वाद ग्रन्थ को निकाल लेना चाहिए। इस पद्धति से ग्रथ के चिपके हुए पत्र अपने आप खुल जाते है। दूसरी पद्धति रोशनाई वनाने की और है वह यह, कि, लोव, सुहागा, लिलवरी को समान भाग लेकर भगरे के रस में लोहे की कडाही में लोहे से ही घोटना चाहिए। इस विधि से रोशनाई वनती तो अच्छी है परन्तु पहली के समान सुन्दर नही होती है। रोशनाई के प्रसग में यह भी उल्लेख मिलता है कि एक प्रकार की कच्ची रोशनाई भी होती थी। तृतीय राजतरगिणी के कर्त्ता जोनराज ने लिखा है कि मेरे पिता ने दस प्रस्थ भूमि में से एक प्रस्थ भूमि बेच दी थी। उनकी मृत्यु के पश्चात् खरीदने वाले दसो प्रस्थ भूमि जवरदस्ती भोगते रहे। और विक्रय पत्र में 'भूप्रस्थमेक विक्रीत' का 'भूप्रस्थ दशक विक्रीत' कर लिया था। मैंने जव राज सभा में अभियोग उपस्थित किया तो राजा ने विक्रय पत्र को पानी में डाल दिया, जिससे नई स्याही के अक्षर तो धुल गए और पुरानी के रह गये। इससे यह स्पष्ट है कि कोई कच्ची स्याही भी होती थी। इन रोशनाइयो से लिखे लेख में आगई अशुद्धि को दूर करने के लिए अक्षर को काटने की प्रथा नही थी, वरन् उसी पर हरताल फेर दी जाती थी। जिससे वह स्थान पीला हो जाता था। यदि आवश्यकता होती थी तो उसी पर लिख दिया जाता था अन्यथा यों ही छोड दिया जाता था। यो तो साधारण रूप से पक्तियो को अलग करने के लिए लाल रोशनाई का ही प्रयोग होता था परन्तु कभी-कभी हरताल से भी यह काम लिया जाता था।

ग्रथो में पक्तियो की सुरूपता पर वडा ध्यान जाता था। विना पक्तियो के कोई ग्रथ नही लिखा जाता था। कागज पर पक्तियाँ करने के लिए भी एक प्रकार की पट्टी का प्रयोग किया जाता था। लकडी की चौरस पट्टी को लेकर जिस प्रकार की पक्तियाँ वनानी होती थी उसी प्रकार की वरावरी नाप करके दोनो ओर एक दूसरे के समानान्तर छेद कर लिए जाते थे। फिर उनमें इस प्रकार सूत्र पिरो दिया जाता था कि कागज़ उसके ऊपर रख कर दवाने से पक्तियाँ अपने आप उभर आती थीं। और उनके सहारे ग्रन्थ लिखा जाता था। इस पट्टी को तैयार करने के समय इस वात का ध्यान रखा जाता था कि जिस आकार के कागज पर, अर्थात् ग्रथ के पत्र जितने लम्वे चौडे रखने हो, पटिया भी उतनी ही वडी वनाई जाती थी।

सब सामग्री एकत्र हो जाने पर ही लेखक (लिपिक) ग्रंथ का लिखना प्रारंभ करता था। यदि ग्रंथ में शीर्षक बहुत होते थे और उन्हें दूसरी रोशनाई से लिखने की आवश्यकता समझी जाती थी जैसा कि प्राय लाल या पहले एक प्रकार की लिखावट समाप्त कर ली जाती थी फिर दूसरी रोशनाई से सारे शीर्षक बाद दिए जाते थे। ऐसे कुछ हस्तलेख देखने में आए हैं जिनमें लेखक मूल तो काली रोशनाई से लिख गया और शीर्षक लिखने के लिए जगह छोड़ता चला गया पर कालान्तर में उसे समय नहीं मिला और छोड़ा हुआ स्थान रिक्त का रिक्त बना रहा।

चित्रित पोथियों की भी यही परिपाटी थी। लेखक (लिपिक) ग्रंथ लिखता चला जाता था और जिस जिस प्रसंग में जो चित्र बनाने आवश्यक होते थे उन्हें हाशिये पर लिखता जाता था जब ग्रंथ लिख जाता तब चित्र बनाए जाते थे या पहिले चित्रकार उन चित्रों के रेखांकन कर देता था और हाशिए पर कथा प्रसंगों का इशारा करता जाता था फिर लेखक (लिपिक) उन प्रसंगों सहित ग्रंथ को लिखकर पूरा करता था। ऐसे ग्रंथो के भी उदाहरण देखने में आते हैं कि जिनमें यथास्थान लिख गए परन्तु उन पर चित्र नहीं बन सके केवल कथा के रेखा चित्र ही बनेहुए रह गए।[1]

प्राय हस्तलेखो में हाशिए लाल रोशनाई से पंक्ति खींच कर बनाए जाते थे अथवा लिखावट के बचाव से ही स्पष्ट हो जाते थे। पंक्ति में छूट के लिए काकपद ( ) लगाकर हाशिये पर छूटे हुए वाक्य को लिखने की परिपाटी थी। जिन ग्रंथों की टीका अपेक्षित होती थी उनमें मूल बीचोबीच की पंक्तियों में मोटे अक्षरों में लिखा जाता था उसके चारों अपेक्षाकृत छोटे अक्षरों में उस का अर्थ अथवा सिद्धान्त व अभिप्राय लिखा जाता था।

इधर जब से हस्तलिखित पोथियों के पढ़ने का उपक्रम होने लगा है तब से नए ग्रंथो के खोजने का भी काम हो रहा है। इस खोज में अनेक विषयो के नाना लिपियों में लिखे हुए ग्रंथ भी सामने आये हैं। जिनकी अक्षरों में इतना वैषम्य है कि उस पर अलग से विचार करना आवश्यक हो गया है। हिंदी साहित्य के ग्रंथो के अनुशीलन का कार्य करने वालों के सामने यह एक समस्या उपस्थित है कि हस्तलिखित ग्रंथों के पाठ शोधन के लिए लिपि (अक्षरी) समस्या को कैसे सुलझाया जाय।

प्रारंभ में जो ग्रंथ मिले थे वे प्राय अपभ्रंश भाषा और जैन पद्धति से लिखे हुए थे उनमें वर्णमाला तो नागरी की थी परंतु कुछ अक्षरों में अंतर था और उनकी बनावट में भारी भेद था। इस भेद के कारण साधारण रूप से ग्रंथों को पढ़ पाना सरल नहीं था। प्रारंभ के प्रकाशित ग्रंथो में यह बात देखने में आती है। लिपि के ऊपर कुल का प्रभाव तो मुख्य है ही प्रान्त का भी प्रभाव कम नहीं पड़ता यही कारण है कि पुरातन साहित्य में संगृहीत अवधी और मालपुरी की रचनाओं के अक्षर पंजाबी चोला धारण किए हुए दिखाई देते हैं। जैसे सिंह—स्यंघ गोविंद—गोब्यंद आदि। यही बात अन्य अहिन्दी प्रान्तों की अक्षरी का है। हिंदी रचनायें उत्तर प्रदेश बिहार छत्तीसगढ़ मध्यप्रदेश राजपूताना में बहुत

---

[1] काशी के भारत कला भवन संग्रहालय में 'करुणाभरण' नाटक की पूरी पोथी इसी प्रकार के रेखाचित्रो से भरी हुई वर्तमान है।

अधिक उपलब्ध होती है, इन प्रान्तो के पडोसी प्रान्तो में प्रचलित लिपियाँ भी इस सीमा में पाए जाने वाले साहित्य पर प्रभाव डालती पाई जाती है।

लिपिक लोगो का महावाक्य "यादृश पुस्तक दृष्ट्वा तादृश लिखित मया। यदि शुद्ध मशुद्ध वा मम दोषो न दीयते।" प्राय हर पोथी के अत में लिखा अवश्य मिलता है परतु इसका यह अर्थ नहीं होता कि लिपिक ने अपनी ओर से ग्रथ मे कोई नई अशुद्धि न की होगी। क्योकि इसके लिए भी एक महावाक्य मिलता है—"मुनेरपि मतिभ्रशोभीम स्यापि पराजय, यदि शुद्धमशुद्ध वा ममदोषो न दीयताम्।" और यदि उसने अशुद्धियाँ की हैं तो कितनी और कैसी की हैं इसे जाँचने का कोई साधन अनुसधायक के पास नही होता। और न यही कि मूल ग्रथ अब कहाँ है। अधिकाँश लिपिक यह भी लिख देते हैं कि उन्होंने किसकी प्रति से और किसके लिए प्रतिलिपि की है, तो भी कालान्तर में उस मूल लेख को न तो खोजा ही जा सकता है न वह सुलभ ही होता है। फिर भी किसी ग्रथ की प्रतिलिपि को देखने पर यह निर्विवाद नही कहा जा सकता है कि लिपिक ने ज्यो की त्यो प्रतिलिपि की है या कुछ कही छोड दिया है अथवा पढ न पा सकने के कारण कुछ का कुछ लिख गया है। यह तो हिंदी का दुर्भाग्य ही है कि अभी तक एक भी ख्यात कवि की किसी भी रचना का कोई पाण्डुलेख नही प्राप्त हो पाया है कि जिससे यह जाना जा सके कि उसने अमुक अक्षरी का प्रयोग अपने लिए किया है।

एक यह भी चलन था कि अपने पढ़ने के लिए ग्रथ अपने हाथ से न लिखा जाय।[1] इस निषेध के मूल में लेखको (लिपिको) की जीविका का प्रश्न भी था। जैनियो में अन्य वस्तुओ के दान के साथ पुस्तकें भी दान में दी जाती थी। पचतत्र की एक कथा से भी इसकी पुष्टि होती है कि लेखको को परिश्रमिक देकर उनसे ग्रथ लिखवा कर दान के लिए प्रस्तुत किए जाते थे। सभव है कि इसका सूत्रपात भी लिपि कर्त्ताओं की ओर से ही हुआ हो। इसका एक असर यह भी हुआ कि अच्छे से अच्छा ज्ञाता भी शब्द की शुद्धता के लिए निश्चित नही रह गया। तब अर्थ के अनुसार पाठ को मानने की परिपाटी चल निकली। इसके साथ दलील यह दी गई कि निरर्थक शब्द तो मूल में रहा नही होगा। और जब इस पाठ का कोई अर्थ नही निकलता तो निश्चय ही यह पाठ या शब्द असगत है। इसके समर्थन में एक बात यह भी कही गई कि जिन ग्रथों के मूल आज प्राप्त नहीं है उनकी प्रतिलिपियाँ भटकते भटकते विकृति की सीमा तक पहुँच गई हैं, उन्हें सही रूप में खोजने के लिए कवि की प्रवृत्ति का सधान करना होगा। यह कठिनाई ऐसे ग्रथो के पाठ के लिए और भी अधिक उपस्थित हुई कि जिनकी अक्षरी नागरी और नस्तालीक थी। नस्तालीक अक्षरो को पढ कर पाठ को ठठ नागरी का बनाने में काफी परिश्रम और अभ्यास की आवश्यकता होती है। कारण यह है कि ह्रस्व और दीर्घ शब्दों को अलग करने के लिए उक्त वर्ण माला में कोई विशेष

---

१ "गीती शीघ्री शिर कपी तथा लिखित पाठक ।
अनर्थज्ञोऽल्प कठश्च षडेते पाठकाधमा ।"

—पाणिनीय शिक्षा

चिह्न नहीं है। इन चिह्नों के न होने से पाठ निर्धारण में ह्रस्व दीर्घ स श ष में भेद कर पाना कठिन होगया है। मूर्धन्य और दन्त्य वर्णों का भी स्पष्ट नहीं किया जा सका। इसे तो फारसी और अरबी के लिए पहले से ही त्याज्य है। इसलिए उसे भी स्पष्ट करना भी कठिनाई है। उस लिपि से पाठ स्थिर करने वाले प्राय शब्द पहले स्थिर कर लेते हैं तब अक्षरों से उसकी पुष्टि करते हैं यदि सरलतापूर्वक अक्षरों से शब्द बना दिया तब तो कोई बात नहीं अन्यथा फिर दूसरी तलाश प्रारंभ होती है।

नागरी लिपि का मूल उद्गम ब्राह्मी ही माना जाता है। यह ब्राह्मी लिपि भी समय-समय पर करवटें लेती रही है जो अशोककालीन शिलालेखों से लेकर जैन और पाल राजाओं के राज्य काल तक के शिला एवं ताम्र पत्रों में देखा जाता है। साधारणतः तो ब्राह्मी में ग्रन्थों के पाए जाने का कोई प्रश्न ही नहीं है पर मोटे लिपि में लिखे हुए बहीं के गोवर पर कुछ ग्रंथ अवश्य मिले हैं। पुरानी प्राय पोथियाँ तो तालपत्रों पर ही मिली हैं। जिसका परिचय एक स्वतन्त्र विषय है। मोर्गलिपि में लिखे हुए जो ग्रंथ मिले हैं वे भी ब्राह्मी ही लिपि में हैं जो उस की एक शाखा कुटिला में है इसका समय ६वीं या १०वीं शती है। इस अवधि में बोलचाल भी लिखने के काम में लाया जाता था। पर हिन्दी भाषा का कोई ग्रंथ नागरी लिपि में भोज पत्र पर लिखा हुआ अभी तक देखने में नहीं आया है।

प्राय हर लिपि में कुछ वर्ण और अक्षर ऐसे होते हैं जिनकी आकृति में प्राय समानता होती है। ऐसे समान वर्णों या अक्षरों को लिखते समय लिपिकार एक के स्थान पर दूसरे को लिख सकता है। यदि मूल में एक आकृति का एक अक्षर हो तो प्रतिलिपिकार उसके स्थान पर उसकी समान आकृति वाले अक्षर को समझ कर लिख सकता है। उदाहरण के लिए नागरी में प य घ ध र व भ म आदि में उलट फेर हो सकता है। जैन लिपिकारों द्वारा की हुई प्रतिलिपि में ब व च त्व ग्छ, प ष स्म त्क, ड इ द्र में भी इसी प्रकार का भ्रम हो सकता है। कभी-कभी शब्द साम्य से भी पाठ भेद उत्पन्न हो जाता है। जैसे रामायण के सरा सुर (१।२११।७) का सुरासुर हो गया है।

अब तक की प्राप्त सामग्री में काशी नरेश के यहाँ सुरक्षित एक पंचनामा ही ऐसा उदाहरण है कि जो गोस्वामी तुलसीदास जी के हाथ का लिखा हुआ कहा जाता है। गोस्वामी जी की रचनायें जितना अधिक प्रचार में आई हैं उतनी कोई दूसरी रचनायें प्रचार में नहीं आईं तो भी रामचरित मानस के बाद शायद जायसी की रचना पद्मावत का ही स्थान होगा। इस की बहुत सी प्रतियाँ इधर उधर पाई जाती हैं सूरदास जी की रचनाओं का संग्रह जो सूर-सागर के नाम से प्रसिद्ध है उसकी भी कोई बहुत पुरानी प्रति अब तक नहीं मिली है। यही दशा करीब-करीब हिन्दी के प्रसिद्ध देव बिहारी मतिराम, केशव भूषण आदि महाकवियों की रचनाओं की है।

जायसी आदि सूफी कवियों की रचनायें नागरी और नस्तालीक जिसे उर्दू के नाम से पुकारा जाता है दोनों लिपियों में लिखी हुई पाई जाती हैं। इसी बीच में एक नई लिपि कैथी के नाम से प्रचलन में आई है। यह लिपि एकदम नस्तालीक (लिपि) के बराबर लिखी

पर चलती रही। इस में भी मात्राग्रो ग्रौर वर्णो की कमी के कारण किसी भी शब्द को ज्यो का त्यो नही लिखा जा सकता है। उसके पाठ में भी नस्तालीक लिपि के समान ही पर्याप्त चिन्ह नही हैं। ग्रत इस लिपि के लेख में भी ह्रस्व दीर्घ का ग्रथवा किसी शब्द की पूरी शुद्धता का निश्चय नही हो सकता है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने जायसी ग्रथावली की भूमिका में लिखा है "पाठ परम्परा प्राय उर्दू (फारसी-ग्ररवी) लिपि में चली है, प्रतियाँ ग्रधिकतर इसी लिपि में है, ग्रौर ग्रच्छी प्रतियाँ तो प्राय इसी लिपि में हैं। जो प्रतियाँ नागरी लिपि में प्राप्त हुई हैं, उनके भी पूर्वज उर्दू (फारसी-ग्ररवी) लिपि के प्रमाणित हुए हैं।"

हस्तलेखो में प्राय कुछ चिन्ह ऐसे होते हैं कि जिन पर पाठ की शुद्धता बहुत कुछ निर्भर रहती है। लिखते-लिखते यदि किसी ग्रक्षर में दीर्घ मात्रा लग गई ग्रौर होना उसे ह्रस्व चाहिए था तो उसके ऊपर १ का ग्रक एक ग्राडी रेखा या—ग्रौर यदि ह्रस्व को दीर्घ बनाना हुग्रा तो २ का ग्रक या = दो ग्राडी रेखायें खीच दी जातीं थी। ये रेखायें भी प्राय ग्रक्षर के ऊपर लगाई जाती थी, परन्तु कभी कभी ग्रक्षर के नीचे भी लगा दी जाती थी।

ग्रक्षरो में भेद तो है ही मात्राग्रो में स्थान ग्रौर पद्धति के ग्रनुसार हेर फेर पाया जाता है। ए ऐ ग्रौर ग्रो ग्रौ की मात्राग्रो के प्रयोग इस बात के उदाहरण हैं। ग्रक्षर की बाई ग्रोर ए की मात्रा ्क ग्रौर दाहिने ग्रौर बांये दोनो ग्रोर ग्रौ ्मा की मात्रा का प्रयोग किया जाता था*। मात्राग्रो की यह पद्धति १२वी शती से लेकर लगभग १७वी शती तक चलती रही है। बगला लिपि में ग्राज भी वर्तमान है। मात्राग्रो का यह क्रम ग्रन्य प्रान्तीय लिपि भेदों में ग्रव तक पाया जाता है। ऊ की मात्रा प्राय ग्रक्षर के नीचे ग्रौर कभी कभी बगल में भी लगाई जाती है। सभव है कि र में बडे ऊ की मात्रा लगाने का जो चलन चला हो वही ग्रन्य ग्रक्षरो के लिए भी लागू हो गया हो। उदाहरण के लिए स़ (सु) ग्रौर स़ू (सू) इन दोनो ग्रक्षरो में छोटे उ ग्रौर बडे ऊ की मात्रायें देखी जा सकती हे। इस कैथी लिपि में ह्रस्व मात्राग्रो के स्थान पर सर्वत्र दीर्घ मात्राग्रों का ही प्रयोग मिलता है। जो उर्दू का ही स्पष्ट प्रभाव है। उसमें ग्रगर ठीक नुकते न लग पाए तो शब्द कुछ का कुछ हो जाता है। ह्रस्व इ, उ, ए, ग्रो, के स्थान पर प्राय दीर्घ ई, ऊ, ऐ, ग्रौ, प्रयोग में ग्राये मिलते हैं। कैथी लिपि ने ग्रपने समय में ऐसा विस्तार पाया कि तमाम ग्रथ उसी में लिखे गए हैं।

इन हस्तलिखित ग्रथों के उपयोग करने में कई प्रकार की सावधानियो की ग्राव-श्यकता रहती है। एक तो जिस विषय का ग्रथ हो उसकी पद्धति, जिस स्थान पर ग्रथ लिखा गया हो उस स्थान की लिपि ग्रौर भाषा का प्रभाव, लिपिक (लेखक) की ग्रपनी भाषा ग्रौर लिपि का ज्ञान। स्वय रचनाकार का बहुत भाषा विद् होना या बहुत प्रदेशो में घूमा हुग्रा होना ग्रादि सब का प्रभाव पाठ पर पडता है। उदाहरण के लिए बुदेलखड के कवि की रचना का डेरा गाजी खाँ में लिखा गया हस्तलेख देखा जा सकता है। इस हस्तलेख में कई ग्रक्षरों की बनावट गुरुमुखी ग्रक्षरो के निकट पहुच गई है ग्रौर शब्द बुन्देली से पजाबी

* १५५४ में लिखित कालक सूरि कथानक से।

एवं मुस्तानी बन गए हैं। यही समस्या प्रायः हर प्रकार के हस्तलेख के विषय में है। जिन हस्तलेखों की एक से अधिक प्रतियाँ प्राप्त हो जाती हैं उनका तो पाठशोधन के सिद्धान्तों के अनुसार उपयोग किया जा सकता है। परन्तु जिन ग्रंथों का केवल एक ही हस्तलेख उपलब्ध हो उसके लिए तो सिवाय इसके कि उस ग्रंथ के पाठ को बिना बिन्दु विसर्ग के परिवर्तन के ज्यों का त्यों उपस्थित कर दिया जाए चाहे मूल शुद्ध हो चाहे अशुद्ध। अधिक से अधिक यह किया जा सकता है कि जो शब्द स्पष्टतः अशुद्ध प्रतीत हो रहा हो उसके आगे (   ) कोष्टक बना कर शुद्ध शब्द लिख देना चाहिए। या कोष्ठक के भीतर ? प्रश्न चिन्ह बना कर छोड़ देना चाहिए। अपनी ओर से पाठ में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करना चाहिए।

हस्तलिखित ग्रंथों में उनका रचनाकाल (Date of Composition) और लिपि काल (Date of manuscript प्रायः शब्दों में दिया जाता है।[1] जो प्राचीनकाल से अपनी बात को सूचना में परम्परा करके कहने की तो है ही। सो अंकों के लिए भी शब्दों का प्रयोग प्रायः देखने में आता है। हिन्दी में भी कभी-कभी फारसी की 'अबजद' प्रणाली (अक्षरों से अंकों को निकालने की पद्धति) के समान अक्षरों से भी अंकों का काम लिया जाता है। कभी संवत् के लिए अंकों एवं अक्षरों के प्रयोग के बजाय उस संवत् का नाम ही लिख दिया जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि अनुसंधान कर्ता के पास एक ऐसी सारिणी (चार्ट) तैयार रहे जिससे वह शीघ्र ही इस प्रकार की समस्या को सुलझा ले। उत्तर भारत में पाए जाने वाले ग्रंथों में प्रायः विक्रम संवत् का ही प्रयोग मिलता है पर मिथिला में लक्ष्मण संवत् बंगाल में पाल एवं सेन संवत्, महाराष्ट्र में शक संवत् प्राय मिलता है।

इन संवतों में विक्रम संवत् चैत्र शुक्ल द्वितीया से और शक संवत् महाराष्ट्र में कार्तिक शुक्ल द्वितीया से हिजरी संवत् आषाढ़ शुक्ल पक्ष में आरम्भ होता है। इसका भेद भी रचना काल और लिपि काल के लिये विचारणीय रहता है। कैथी लिपि में लिखे गए हस्तलेखों में प्रायः फसली या हिजरी संवत् दिया रहता है। इन संवतों में आपस में थोड़े वर्षों का अंतर रहता है। ग्रंथ में दिए हुए संवत्, तिथि वार आदि का मिलान करने का बहुत सुगम उपाय दीवान बहादुर स्वामी कन्नु पिल्लै की पुस्तक (इंडियन

---

[1]

१	के लिए	न	११	के लिए	मन	३	के लिए	त
२		ग्न	१२		मग्न	४		प्त
३		न्य	१३	,,	मन्य	५		व
४		ष्क	१४		मष्क	६	,,	थ
५		म्क	१५		मम्क	७		सु
६		ह्रा	१६	,,	मह्रा	८		लु
७	,,	घ	१७		मघ	९	,,	ग
८		प्र	१८		मप्र	१		ण
९		ह्रे	१९		मह्रे	२	,,	ण ण
१		म	२		थ			

एफेमेरीज) में वताया गया है। उक्त ग्रथ में वि० स० १ से लेकर १७४२ तक के वर्पो की विस्तृत सारिणी दे दी गई है, जिससे किसी भी तिथि की पडताल सरलता से की जा सकती है। साधारणतया यह ध्यान तो रखना ही होगा कि ग्रथ की रचना कहाँ हुई है, अथवा ग्रथ का वर्ण्य विषय किस प्रदेश से सम्वन्ध रखता है। क्यो कि यह सभावना तो रहती ही है कि रचयिता ने अपने प्रदेश में प्रचलित किसी घटना प्रधान तिथि का उल्लेख तो नही किया है अथवा किसी तिथि के स्थान पर केवल घटना का ही उल्लेख तो नही कर गया है।

पूर्वी प्रदेशो में पाए जाने वाले हस्तलेख जो प्राय: कैथीलिपि मे होते है, उनके सवत् भी फसली होते हैं, कभी-कभी हिजरी सन् का प्रयोग भी मिलता है। यह हिजरी सन् जब मुहम्मद साहेब ने मक्के से मदीने की यात्रा (हिजरत) की थी अर्थात् सन् ६२२ ई० में जव अपने विरोधियो के कारण मक्का छोडकर मदीने चले गए थे तव से इस (हिजरी सन्) का प्रचलन माना जाता है। किस हिजरी तारीख को विक्रम सवत् अथवा ईस्वी सन् की कौन सी तारीख थी, इसकी ठीक पडताल में कठिनाई है। हिजरी मास चद्रमा के अनुसार आरभ होता है, हिजरी साल में लगभग ३५५ दिन होते हैं, ईस्वी सन् ३६५ या ३६६ दिन का होता है। इस न्यूनता अथवा अधिकता का फल यह होता है कि हिजरी सन् की पहली तारीख प्रत्येक ईस्वी वर्प की किसी निश्चित तारीख को नही पडा करती और हिजरी सन् के ३३ वर्ष सदा ईसवी सन् के ३१ वर्षों के वरावर हुआ करते हैं। जिससे प्रत्येक ३२ या ३३ वर्षों के पश्चात् दो हिजरी सनो की पहिली तारीखें एक ही ईसवी सन् के अन्तगत आ जाती है। उदाहरणार्थ १९ व २० हिजरी सन् की तारीखें सन् ३४० ईसवी की २ जनवरी व २१ दिसवर को पडी थी।

हिजरी सन् को ईसवी सन् से मिलान करने के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है। कि हिजरी सन् का आरम्भ जुलाई सन् ६२२ ईसवी में हुआ है। दूसरे, हिजरी सन् के ३३ साल ईसवी सन् के ३२ वर्ष के बराबर होते हैं। इसलिए उसमें २ प्रति सैकडा का अतर पडता है। हिजरी सन् का ईसवी सन् से मिलान करने का सुगम उपाय यह है कि पहिले हिजरी सन् में से उसका $\frac{1}{33}$ भाग घटाया जाय। इसके वाद उसमें ६२२ जोड़ दिए जाय, इस जोड का फल ईसवी सन् होगा।

किसी हस्तलेख का उपयोग करने से पहिले उसके रचयिता के वियय में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। फिर ग्रथ के विषय में खोज के लिये हस्त लिखित ग्रथो के विवरण देख लेना चाहिए। इतनी तैयारी के वाद तब ग्रथ की अतरग परीक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। ग्रन्थ के पाठ में यदि कही विकृतियाँ दिखाई पडती हैं तो उन पर विचार करना चाहिए। ये विकृतियाँ चार प्रकार से आती है —

(१) मूल पाठ में कुछ अपनी ओर से वढा देने की प्रवृत्ति से।

(२) किसी पाठ को अशुद्ध या अधिक समझ कर छोड देने से।

(३) किसी पाठ के स्थान पर दूसरा पाठ रख देने से।

(४) पाठ के क्रम में परिवर्तन कर देने से।

कभी कभी किसी संकेत विशेष को न समझ पाने से हाशिये पर लिखे हुए संकेत का असावधानी से दूसरे स्थान पर लिख जाने से भी पाठ भेद या विकार होता है इस प्रकार आगम लोप विपर्यय और व्यत्यय इन चार के अतिरिक्त भी पाठ भेद पाये जाते हैं। इस लिए हस्तलेख में यह भी देख लेना चाहिए कि लिपिक ने कहीं अपनी ओर से कोई सुधार तो नहीं कर लिया है अथवा कहीं कुछ छोड़ तो नहीं गया है। किसी भी ग्रन्थ का पाठ लिपिक की इयौटी पर ही निर्भर करता है। कभी कभी ऐसे भी उदाहरण पाये जाते हैं कि लिपिक सारे ग्रन्थ में एक ही प्रकार की अशुद्धि सर्वत्र करता चला गया है अतः यह उसकी इयौटी का दोष है। स्वयं लेखक द्वारा लिखे गये हस्तलेख में इस प्रकार के दोषों की सम्भावना कम रहती है परन्तु यह तो संयोग की ही बात है कि कहीं किसी लेखक (रचयिता) का हस्तलेख ही मिल जाय अधिकतर तो लिपिकारों के द्वारा प्रतिलिपि किए गए ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं। ये लिपिकार भी कभी कभी तो अपना नाम धाम लिख देते हैं पर प्रायः यह भी मौन रहते हैं और अपना नाम तक नहीं लिखते ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि किसने की। यह सब कठिनाइयाँ होते हुए भी शोध कार्य के लिये हस्तलेखों का बराबर उपयोग हो रहा है और आगे भी अधिकाधिक होता जायगा। अतएव बहुत सावधानी से ही हस्तलेखों का उपयोग करना चाहिए। जिससे न तो कहीं आवश्यक बात छूटने पावे और न कहीं अनावश्यक बात या विचारों के आ जाने की संभावना ही रहे।

उदयशङ्कर शास्त्री

शिलालेख और उनका वाचन

भारतीय सस्कृति के जिन उपदानो की अब तक छान बीन हुई है उसमें शिलालेख अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। यो लिपि अथवा लेखन के बहुत से प्रमाण तो ग्रथो में पाए जाते है परतु लिखित रूप में कोई बहुत पुराना प्रमाण अब तक नही मिल पाया है। मुहेंजोदारो और हरप्पा से प्राप्त मुहरो (Seals) में एक प्रकार की लिपि दिखाई देती है, परन्तु उन मुहरो की लिपि को अभी तक पूरी तौर पर पढा नही जा सका है। वहाँ अब तक इस प्रकार ३९६ नमूने मिले है। जिनमें से कुछ चिह्न सयुक्त से दिखते है और कुछ मात्रा लगने से बदल गए है। १२ मात्राओ तक के चिह्न मिलते है। यह चिन्ह अथवा लिपि दाँये से बाये हाथ की ओर लिखी गई है। मुहेंजोदारो और हरप्पा से अभी तक कोई ऐसा बडा और द्विभाषीय (Bilangual) लेख नही मिल पाया है कि जिसके सहारे इस लिपि के अक्षरो को पढा जा सके। इस ओर फादर हेरास, डा० प्राणनाथ विद्यालकार आदि के प्रयास अभी बहुत कुछ अनुमानो पर ही आधारित है।

द्रविड सभ्यता के इन केन्द्रो की खुदाई के पूर्व, अजमेर जिले के बोडेली गाँव से एक जैन शिलालेख और गोरखपुर जिले के पिपरावा गाँव से जो लेख मिले है उन्हें अब तक के प्राप्त शिलालेखो में सब से प्राचीन माना गया है। शिलालेखो में खुदी हुई वर्णमाला ई० पूर्व ३५० से ही मिलती है। इन शिलालेखो में आज के समान पूरी वर्णमाला प्राप्त नही है। इसका कारण यह है कि आरभिक शिलालेखो (Inscriptions) की भाषा पाली अथवा प्राकृत है। जिसमें अनेक अक्षरो और उनके रूपो की आवश्यकता ही नही होती है। इसलिए चीनी तुर्किस्तान एव सीमाप्रान्त से पाए गए शिलालेखो में कुछ अक्षर कम हैं। भारतीय लिपियों के विषय में दो प्रकार के विवाद हैं। एक तो यह कि भारत में लेखन का प्रचार कब से है और दूसरा यह कि प्राचीन से प्राचीन मिलने वाली लिपि (ब्राह्मी) की उत्पत्ति कैसे हुई। कुछ लोगो का यह भी कहना है कि ईसा से सातवी शती से पूर्व लोग लिखना जानते ही न थे और यह ब्राह्मी लिपि भारत में पछाँही देशो में प्रचलित लिपियों के आधार पर बनाई गई। उन लोगो का यह कहना है कि अभी तक कोई भी शिलालेख सस्कृत भाषा में लिखा हुआ नही पाया गया है जो विक्रम से पूर्व तीसरी शती का भी हो। वैदिक काल के बाद ब्राह्मण युग में आरण्यक एव उपनिषदों की रचनाए हुई

की जो सब के सब शुद्ध संस्कृत भाषा में है अतः उस समय का कोई शिलालेख। मिट्टी की मुहर (Seal) ऐसी मिलनी चाहिए जो उस समय की लिपि का परिचय दे सके।

अब तक के प्राप्त शिलालेखों में ऊपर कहे गए दो शिलालेखों को छोड़ कर अशोक के लेख ही सब से प्राचीन ठहरते हैं। अशोक के ये लेख चार प्रकार के हैं।

१ स्तम लेख
२ चट्टान पर खुदे हुए लेख।
३ गुफाओं के भीतर खुदे हुए लेख।
४ फुटकर लेख।

इन लेखों की लिपि (ब्राह्मी) के अक्षर इतने सादे और इतने अलंकरण रहित हैं जिससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है यह लिपि की प्रारंभिक अवस्था के लेख हैं। अशोक के एक या दो सौ वर्ष पीछे अक्षरों में घुमाव-फिराव और अलंकरण प्रारंभ हो जाता है। अतएव यह संभव है कि अशोक के पहिले और कोई और लिपि रही हो और और उसके पीछे ब्राह्मी लिपि का प्रचलन हुआ हो। अशोक के शिलालेख सीमा प्रान्त में खरोष्ट्री लिपि में भी पाए गए हैं। पर उनकी संख्या अँगुलियों के पोर पर गिनने लायक भी नहीं है, वे केवल मानसेहरा और शाहबाजगढ़ी नामक स्थानों में पाए गए हैं। यह लिपि भी दाईं ओर से बाईं ओर को चलती है। सुदूर दक्षिण के 'यर्रगुडि' नामक स्थान से पाया जाने वाला अशोक का एक शिलालेख भी इसी पद्धति से उत्कीर्ण किया गया है।

इस लिपि के ब्राह्मी नाम का सबसे प्राचीन उल्लेख जैनागमों[1] में पाया गया है। जिसमें अन्य लिपियों के साथ ब्राह्मी लिपि का भी नाम लिया गया है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि प्रारंभिक शिलालेखों की भाषा पाली और प्राकृत होने के कारण उस वर्णमाला में ऋ, ऐ औ आदि अक्षर नहीं हैं। देवनागरी की वर्तमान वर्णमाला के हिसाब से इस प्रारंभिक लिपि में पूरे तत्व नहीं खोजना चाहिए। पर जैसे जैसे भाषा में संस्कार आता गया वैसे वैसे अक्षरों में भी सुधार होता गया उनमें मात्रायें लगने लगीं संयुक्ताक्षरों का स्वरूप सुसंस्कृत और स्थिर होने लगा। विक्रम संवत् की तीसरी शती तक आते आते लिपि को कलात्मक दृष्टि से सजाने सवारने की प्रवृत्ति भी जागी। गुप्त राजाओं के शासन काल में जहाँ अन्य दूसरी कलायें विकसित हुईं वहीं लिपिकला (Paleaography) ने भी प्रचुर विस्तार पाया। इसका एक कारण यह भी था कि इस युग में बड़े बड़े काव्य ग्रंथ रचे जा रहे थे। उन्हें लिखने तथा बड़ी-बड़ी प्रशस्तियों को शिला पट्टों एवं स्तंभों पर उत्कीर्ण कराने की आवश्यकता प्रतीत हुई तब लिपि में भी पर्याप्त सुधार किए गए। यह सुधार इतना अधिक हो गया कि अक्षरों में बहुत अधिक घुमाव-फिराव आ गया जिसके कारण गुप्त काल की लिपि को कुटिल

१ एम आर नार्पाड़िया ए हिस्ट्री ऑफ दि कनोनिकल लिट्रेचर ऑफ दी जैन पृ २२८-२९।

रीअंक

फलक—४

रदा	टाकरी	कैथी	मैथिली	हिन्दी
𑇑	𑛁	१	𑓑	१
𑇒	𑛂	२	𑓒	२
𑇓	𑛃	३	𑓓	३
𑇔	𑛄	४	𑓔	४
𑇕	𑛅	५	𑓕	५
𑇖	𑛆	६	𑓖	६
𑇗	𑛇	७	𑓗	७
𑇘	𑛈	८	𑓘	८
𑇙	𑛉	९	𑓙	९
𑇐	𑛀	०	𑓐	०

रीअंक

ारदा	टाकरी	कैथी	मैथिली	हिन्दी
𑇑	𑛁	१	𑓑	१
𑇒	𑛂	२	𑓒	२
𑇓	𑛃	३	𑓓	३
𑇔	𑛄	४	𑓔	४
𑇕	𑛅	५	𑓕	५
𑇖	𑛆	६	𑓖	६
𑇗	𑛇	७	𑓗	७
𑇘	𑛈	८	𑓘	८
𑇙	𑛉	९	𑓙	९
𑇐	𑛀	०	𑓐	०

इंडिशेपैलियोग्राफी, बार्ज ब्यूलर।

इंडियन एण्टीक्वेरी।

'ए थ्योरी ऑव दी ओरिजिन ऑव दी नागरी अल्फाबेट' शामा शास्त्री का लेख इंडियन एण्टीक्वेरी भा० ३५ पृ २५३ ३२१।

पेलियोग्राफिक नोट्स भंडारकर अभिनंदन ग्रंथ में विष्णु सीताराम सुकथनकर का लेख। पृ ३०९ ३२२।

माउंट माइल्स ऑव पैलियोग्राफी एच आर० कापडिया का लेख जर्नल ऑव द यूनिवर्सिटी ऑव बाम्बे आर्ट्स एण्ड लेटर्स। सं १२ जि ६ सन् १९३८ पृ ८७-९९।

ए डिटेल्ड एक्सपोजिशन ऑव दी नागरी गुजराती एण्ड मोडी स्क्रिप्ट्स एच० आर कापडिया का लेख भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट की पत्रिका। भा १९ १ (१९३८) पृ ३८६ ४१८।

जैन चित्र कल्पद्रुम भूमिका मुनि पुण्य विजय जी। अहमदाबाद।

भारतीय प्राचीन लिपिमाला म म पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा अजमेर।

ओरिजिन ऑव दी बंगाली स्क्रिप्ट राखालदास बन्द्योपाध्याय। कलकत्ता।

इंडियन पैलियोग्राफी भाग १ डा राजबली पाण्डेय काशी।

दी अल्फाबेट डी डिरिंगर लंदन।

हिन्दी विश्वकोष का 'अक्षर' शब्द कलकत्ता।

अशोक इंसक्रिप्शनम इंडिकेरम हुल्श लंदन।

" " कनिंघम कलकत्ता।

गुप्त इंसक्रिप्शन्स जे एफ फ्लीट "

अशोक की धर्मलिपियाँ ओझा श्यामसुन्दरदास काशी।

प्रियदर्शि प्रशस्तयः म म रामावतार शर्मा पटना।

सेलेक्ट इंसक्रिप्शन्स डी सी सरकार कलकत्ता।

कलचुरी इंसक्रिप्शन्स वी वी मिराशी उटाकमण्ड

इंडियेनैसियोग्राफी पार्ज ब्यूलर।

इंडियन एण्टीक्वेरी।

'ए थ्योरी ऑव दी ओरिजिन ऑव दी नागरी अल्फाबेट' श्यामा शास्त्री का लेख, इंडियन एण्टीक्वेरी भा ३५ पृ २५३ ३२१।

पेलियोग्राफिक नोट्स भंडारकर अभिनंदन ग्रंथ में विष्णु सीताराम सुकथनकर का लेख। पृ १ ६ १२२।

आउट लाइन्स ऑव पैलियोग्राफी एच आर० कापड़िया का लेख जर्नल ऑव द यूनिवर्सिटी ऑव बाम्बे आर्ट एण्ड लेटर्स। सं १२ जि ६ सन् १९३८ पृ ८७-११।

ए डिटेल्ड एक्सपोजिशन ऑव दी नागरी गुजराती एण्ड मोडी स्क्रिप्ट्स एच आर कापड़िया का लेख भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट की पत्रिका। भा १९ १, (१९३८) पृ ३८६ ४१८।

जैन चित्र कल्पद्रुम भूमिका मुनि पुण्य विजय जी। अहमदाबाद।

भारतीय प्राचीन लिपिमाला म म पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा अजमेर।

ओरिजिन ऑव दी बंगाली स्क्रिप्ट राखालदास बन्द्योपाध्याय। कलकत्ता।

इंडियन पैलियोग्राफी भाग १ डा राजबली पाण्डेय काशी।

दी अल्फाबेट डी० डिरिंगर, लंदन।

हिन्दी विश्वकोश का 'अक्षर' शब्द कलकत्ता।

अशोक इंस्क्रप्शनस इंडिकेरम हुल्श लंदन।

„ कनिंघम कलकत्ता।

„ जे एफ फ्लीट „

श्री धर्मलिपियाँ ओझा श्यामसुन्दरदास काशी।

„ प्रशस्तियाँ म म रामावतार शर्मा पटना।

इंस्क्रप्शन्स डी सी सरकार, कलकत्ता।

„ इंस्क्रप्शन्स बी बी मिराशी उटाकमण्ड

इंडिक्रेपैलियोग्राफी चार्ल्स ब्यूलर।
इंडियन एण्टीक्वैरी।
'ए थ्योरी ऑव दी ओरिजिन ऑव दी नागरी अल्फाबेट' श्यामा शास्त्री का लेख इंडियन एण्टीक्वैरी भा ३५ पृ २५३।२८१।

पैलियोग्राफिक नोट्स भंडारकर अभिनंदन ग्रंथ में विष्णु सीताराम सुकथनकर का लेख। पृ ३०९।३२२।

आउट लाइन्स ऑव पैलियोग्राफी एच आर कापडिया का लेख जर्नल ऑव द यूनिवर्सिटी ऑव बाम्बे आर्ट्स एण्ड लेटर्स। सं १२ जि ६ सन् १९३८ पृ ८७-९९।

ए क्रिटिकल एक्सपोजिशन ऑव दी नागरी गुजराती एण्ड मोडी स्क्रिप्टस एच आर कापडिया का लेख भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट की पत्रिका। भा १९, १ (१९३८) पृ १८६।४१८।

जैन चित्र कल्पद्रुम भूमिका मुनि पुण्य विजय जी।		अहमदाबाद।
भारतीय प्राचीन लिपिमाला म म पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा		अजमेर।
ओरिजन ऑव दी बंगाली स्क्रिप्ट राखालदास बन्द्योपाध्याय।		कलकत्ता।
इंडियन पैलियोग्राफी	भाग १ डा राजबली पाण्डेय	काशी।
दी अल्फाबेट डी० डिरिंगर		लंदन।
हिन्दी विश्वकोष का 'अक्षर' शब्द		कलकत्ता।
अशोक इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम हुल्श		लंदन।
	कनिंघम	कलकत्ता।
गुप्त इंस्क्रिप्शन्स	जे एफ फ्लीट	
अशोक की धर्मलिपियाँ	ओझा श्यामसुन्दरदास	काशी।
प्रियदर्शि प्रशस्तयः	म म रामावतार शर्मा	पटना।
सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स	डी सी सरकार	कलकत्ता।
कलचुरी इंस्क्रिप्शन्स	वी वी मिराशी	उटाकमण्ड

स्वामियों या संरक्षकों से (५) हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह में संलग्न व्यक्तियों से अथवा अनुसंधानाओं से अपने काम के ग्रंथों का पता लगाकर उन्हें उपलब्ध कर लेना चाहिये। जब ग्रंथ आपको मिल गया तो पुस्तकालय वाले आपको बतायेंगे कि किन-किन बातों का आपको ध्यान रखना है। जैसे आप नेशनल आर्काईव्ज दिल्ली में जाएँ तो वे बतायेंगे कि आप उस हस्तलेख या डाक्यूमेन्ट पर कुछ लिखेंगे नहीं। विशेष सावधानी से पत्रों को उलटेंगे। हस्तलिखित ग्रंथों के कुछ कागज ऐसे होते हैं जो बहुत ही टूटने वाले होते हैं जरा हाथ लगाया कि टूटे। जहाँ पर विधिम हस्तलिखित ग्रंथो का काम होता है, वहाँ उन ग्रंथागारों में ऐसे खस्ता पत्रों पर पारदर्शी कागज दोनो तरफ लगा दिया जाता है, जिससे कि वह जहाँ तक हो सके टूटें नहीं और उसे पढ़ भी लिया जाय। लेकिन फिर भी जैसे कि अपने ही यहाँ है अभी इतनी व्यवस्था तो नही है, इसलिए मैं डर रहता है कि आप उनको छुएँगे तो वह कागज टूट जायगा और टूट जाने से बड़ी हानि होगी। कभी-कभी वह किनारे से भी टूट जाता तब उसे जोड़ दिया जा सकता है। कभी-कभी बीच-बीच में से ही उसका हिस्सा गल जाता है। यदि इस प्रकार के हस्तलिखित ग्रंथों को आप देखें तो इस बात का बहुत ध्यान रखें कि सफाई से उसे खोलने का प्रयत्न करें कोई एक चीज पीछे से लगाकर उसके सहारे से उसे खोलें क्योंकि यदि हस्तलिखित ग्रंथों को हानि पहुँच जाती है तो वह आपकी ही नहीं राष्ट्रीय संपत्ति की भी तथा ज्ञान की भी हानि हो जाती है। अत यह बहुत आवश्यक है कि इस तरह की सावधानी रखी जाए कि ग्रंथ को क्षति न पहुँचे। और उसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उस ग्रंथ पर कुछ लिखा न जाए। जो कुछ नोट लिए जाएँ वह अलग कागज पर लिये जायें। फिर दूसरी कठिनाई हस्तलिखित ग्रंथों के साथ यह है कि उसके पृष्ठ एक दूसरे से चिपक जाते हैं। पुराने जमाने की स्याही के संबंध में शास्त्री जी ने उस दिन बताया कि उसमे गोंद भी हुआ करता था। गोंद वाले पृष्ठ चिपक जाया करते हैं। और उन चिपके हुए पन्नों को खोलना भी एक कला है। शास्त्री जी ने अपने भाषण में ऐसे ग्रंथो को खोलने की विधि आपको बता दी है। ग्रंथों के खुलने में न तो अक्षर उखड़ने चाहिये और न उसकी स्याही घुल जानी चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है और पृष्ठ न टूटे इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है। कुछ ग्रंथ तो जिल्द बंधे हुए होते है और कुछ पत्राकार। इन दोनों प्रकार के ग्रंथों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय इस बात को व्यवहार करने के पहिले भली भाँति सोच लेना चाहिए। प्रत्येक रिसर्च स्कालर को उसके लिए एक विधि निश्चित कर लेनी चाहिए, जिससे कि उसके अक्षरों को और ग्रंथ का कोई क्षति न पहुँचे। एक और कठिनाई उसकी भाषा के संबंध में आती है। क्योंकि ग्रंथ एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए मिलते है। सूर सागर, रामचरित मानस आदि कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जिनका विस्तार क्षेत्र बहुत अधिक है। और हर क्षेत्र की लिखावट अलग-अलग है। कोई अक्षर किसी प्रकार लिखा जाता है कोई किसी प्रकार। मैंने शास्त्री जी से प्रार्थना की कि वह इस प्रकार की अक्षरावली तैयार कर दें तो बड़ा अच्छा हो। उस अक्षरावली का एक प्रारंभिक रूप शास्त्री जी ने प्रस्तुत कर

स्वामियों या संरक्षकों से (२) हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह में संलग्न व्यक्तियों से अथवा प्रमुखंवालाओं से अपने काम के ग्रंथों का पता लगाकर उन्हें उपलब्ध कर लेना चाहिये । जब ग्रंथ आपको मिल गया तो पुस्तकालय वाले आपको बतायेंगे कि किन-किन बातों का आपको ध्यान रखना है। जैसे आप मेंसनस मार्कसीजो सिस्सी में जाएँ तो वे बतायेंगे कि आप उस हस्तलेख या डाक्यूमेण्ट पर कुछ लिखेंगे नहीं। विशेष सावधानी से पन्नों को उलटेंगे । हस्तलिखित ग्रंथों के कुछ कागज ऐसे होते हैं या बहुत ही टूटने वाले होते हैं, जरा हाथ लगाया कि टूटे। जहाँ पर विविध हस्तलिखित ग्रंथों का काम होता है, वहाँ उन ग्रंथागारों में ऐसे खस्ता पन्नों पर पारदर्शी कागज दोनों तरफ लगा दिया जाता है, जिससे कि वह जहाँ तक हो सके टूटें नहीं और उसे पढ़ भी लिया जाय। लेकिन फिर भी जैसे कि अपने ही यहाँ है अभी इतनी व्यवस्था तो नहीं है इसलिए वे डर रहता है कि आप उनको छूएँगे तो वह कागज टूट जायगा और टूट जाने से बड़ी हानि होगी । कभी-कभी वह किनारे से भी टूट जाता तब उसे जोड़ दिया जा सकता है। कभी-कभी बीच-बीच में से ही उसका हिस्सा भड़ जाता है । यदि इस प्रकार के हस्तलिखित ग्रंथों को आप देखें तो इस बात का बहुत ध्यान रखें कि सफाई से उसे खोलने का प्रयत्न करें कोई एक चीज पीछे से लगाकर उसके सहारे से उसे खोलें क्योंकि यदि हस्तलिखित ग्रंथों को हानि पहुँच जाती है तो वह आपकी ही नहीं राष्ट्रीय सम्पत्ति की भी तथा ज्ञान की भी हानि हो जाती है। अतः यह बहुत आवश्यक है कि इस तरह की सावधानी रखी जाए कि ग्रंथ को क्षति न पहुँचे। और उसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उस ग्रंथ पर कुछ लिखा न जाए। जो कुछ नोट लिए जाएँ वह अलग कागज पर लिये जावें । फिर दूसरी कठिनाई हस्तलिखित ग्रंथों के साथ यह है कि उसके पृष्ठ एक दूसरे से चिपक जाते हैं। पुराने जमाने की स्याही के संबंध में शास्त्री जी ने उस दिन बताया कि उसमें गोंद भी हुआ करता था । गोंद वाले पृष्ठ चिपक जाया करते हैं। और उन चिपके हुए पन्नों को खोलना भी एक कला है । शास्त्री जी ने अपने भाषण में ऐसे पन्नों को खोलने की विधि आपको बता दी है। ग्रंथों के खुलने में न तो अक्षर उखड़ने चाहिये और न उसकी स्याही घुल जानी चाहिए । इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है और पृष्ठ न टूटें इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है। कुछ ग्रंथ तो जिल्द बंधे हुए होते हैं, और कुछ पत्राकार। इन दोनों प्रकार के ग्रंथों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय इस बात को व्यवहार करने से पहिले अभी भाँति सोच लेना चाहिए। प्रत्येक रिसर्च स्कालर को इसके लिए एक विधि निश्चित कर लेनी चाहिए, जिससे कि उसके अक्षरों को और ग्रंथ को कोई क्षति न पहुँचे। एक और कठिनाई उसकी भाषा के संबंध में आती है। क्योंकि ग्रंथ एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए मिलते हैं। सूर सागर, रामचरित मानस आदि कुछ ग्रंथ ऐसे हैं, जिनका विस्तार क्षेत्र बहुत अधिक है। और हर क्षेत्र की लिखावट अलग-अलग है। कोई अक्षर किसी प्रकार लिखा जाता है, कोई किसी प्रकार। मैंने शास्त्री जी से प्रार्थना की कि वह इस प्रकार की अक्षरावली तैयार कर दें तो बड़ा अच्छा हो। उस अक्षरावली का एक प्रारंभिक रूप शास्त्री जी ने प्रस्तुत कर

स्वामियों या सरकारों से (२) हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह में संलग्न व्यक्तियों से अथवा अनुसंधाताओं से अपने काम के ग्रंथों का पता लगाकर उन्हें उपलब्ध कर लेना चाहिये। जब ग्रंथ आपको मिल गया तो पुस्तकालय वाले आपको बतायेंगे कि किन किन बातों का आपको ध्यान रखना है। जैसे आप नेशनल आर्काईव्ज में जाएँ तो वे बतायेंगे कि आप उस हस्तलेख या डाक्यूमेन्ट पर कुछ लिखेंगे नहीं। विशेष सावधानी से पत्रों को उलटेंगे। हस्तलिखित ग्रंथों के कुछ कागज ऐसे होते हैं जो बहुत ही टूटने वाले होते हैं जरा हाथ लगाया कि टूटे। जहाँ पर विविध हस्तलिखित ग्रंथों का काम होता है, वहाँ उन ग्रंथागारों में ऐसे खस्ता पत्रों पर पारदर्शी कागज दोनों तरफ लगा दिया जाता है जिससे कि वह जल्दी तक हो सके टूटे नहीं और उसे पढ़ भी लिया जाय। लेकिन फिर भी जैसे कि अपने ही यहाँ है, अभी इतनी व्यवस्था तो नहीं है, इसलिए मैं डर रहता है कि आप उनको छूऐंगे तो वह कागज टूट जायगा और टूट जाने से बड़ी हानि होगी। कभी-कभी वह किनारे से भी टूट जायगा तब उसे जोड़ दिया जा सकता है। कभी-कभी बीच-बीच में से ही उसका हिस्सा गल जाता है। यदि इस प्रकार के हस्तलिखित ग्रंथों को आप देखें तो इस बात का बहुत ध्यान रखें कि सफाई से उसे खोलने का प्रयत्न करें कोई एक चीज पीछे से लगाकर उसके सहारे से उसे खोलें क्योंकि यदि हस्तलिखित ग्रंथों को हानि पहुँच जाती है तो वह आपकी ही नहीं राष्ट्रीय सम्पत्ति की भी तथा ज्ञान की भी हानि हो जाती है। अतः यह बहुत आवश्यक है कि इस तरह की सावधानी रखी जाए कि ग्रंथ को क्षति न पहुँचे। और उसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उस ग्रंथ पर कुछ लिखा न जाए। जो कुछ नोट लिए जायें वह अलग कागज पर लिये जायें। फिर दूसरी कठिनाई हस्तलिखित ग्रंथों के साथ यह है कि उसके पृष्ठ एक दूसरे से चिपक जाते हैं। पुराने जमाने की स्याही के संबंध में शास्त्री जी ने उस दिन बताया कि उसमें गोंद भी हुआ करता था। गोंद वाले पृष्ठ चिपक जाया करते हैं। और उन चिपके हुए पन्नों को खोलना भी एक कला है। शास्त्री जी ने अपने भाषण में ऐसे ग्रंथों को खोलने की विधि आपको बता दी है। ग्रंथों के खुलने में न तो अक्षर उखड़ने चाहिये और न उसकी स्याही धुल जानी चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है और पृष्ठ न टूटे इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है। कुछ ग्रंथ तो जिल्द बँधे हुए होते हैं और कुछ पत्राकार। इन दोनों प्रकार के ग्रंथों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय इस बात को व्यवहार करने से पहिले भली भाँति सोच लेना चाहिए। प्रत्येक रिसर्च स्कालर को उसके लिए एक विधि निश्चित कर लेनी चाहिए, जिससे कि उसके अक्षरों को और ग्रंथ को कोई क्षति न पहुँचे। एक और कठिनाई उसकी भाषा के संबंध में आती है। क्योंकि ग्रंथ एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए मिलते हैं। सूर सागर रामचरित मानस आदि कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जिनका विस्तार क्षेत्र बहुत अधिक है। और हर क्षेत्र की लिखावट अलग-अलग है। कोई अक्षर किसी प्रकार लिखा जाता है कोई किसी प्रकार। मैंने शास्त्री जी से प्रार्थना की कि वह इस प्रकार की अक्षरावली तैयार कर दें तो बड़ा अच्छा हो। उस अक्षरावली का एक प्रारंभिक रूप शास्त्री जी ने प्रस्तुत कर

स्वामियों या संरक्षकों से (५) हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह में संलग्न व्यक्तियों से अथवा अनुसंधानशालाओं से अपने काम के ग्रंथों का पता लगाकर उन्हें उपलब्ध कर लेना चाहिये। अब ग्रंथ आपको मिल गया तो पुस्तकालय वाले आपको बतायेंगे कि किन किन बातों का आपको ध्यान रखना है। जैसे आप नेशनल आर्काइव्ज दिल्ली में जाएँ तो वे बतायेंगे कि आप उस हस्तलेख या डाक्यूमेण्ट पर कुछ लिखेंगे नहीं। विशेष सावधानी से पन्नों को उलटेंगे। हस्तलिखित ग्रंथों के कुछ कागज ऐसे होते हैं या बहुत ही टूटने वाले होते हैं जरा हाथ लगाया कि टूटे। जहाँ पर विधिवत हस्तलिखित ग्रंथों का काम होता है, वहाँ उन ग्रंथागारों में ऐसे खस्ता पन्नों पर पारदर्शी कागज दोनों तरफ लगा दिया जाता है, जिससे कि वह जहाँ तक हो सके टूटें नहीं और उसे पढ़ भी लिया जाय। लेकिन फिर भी जैसे कि अपने ही यहाँ है, अभी इतनी व्यवस्था तो नहीं है, इसलिए मैं डर रहा हूँ कि आप उनको छुएँगे तो वह कागज टूट जायगा और टूट जाने से बड़ी हानि होगी। कभी-कभी वह किनारे से भी टूट जायगा तब उसे जोड़ दिया जा सकता है। कभी-कभी बीच-बीच में से ही उसका हिस्सा झड़ जाता है। यदि इस प्रकार के हस्तलिखित ग्रंथों को आप देखें तो इस बात का बहुत ध्यान रखें कि सफाई से उसे खोलने का प्रयत्न करें कोई एक चीज पीछे से लगाकर उसके सहारे से उसे खोलें क्योंकि यदि हस्तलिखित ग्रंथों का हानि पहुँच जाती है तो वह आपकी ही नहीं राष्ट्रीय सम्पत्ति की भी तथा ज्ञान की भी हानि हो जाती है। अतः यह बहुत आवश्यक है कि इस तरह की सावधानी रखी जाए कि ग्रंथ को क्षति न पहुँचे। और उसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उस ग्रंथ पर कुछ लिखा न जाए। जो कुछ नोट किए जाएँ वह अलग कागज पर लिखे जायें। फिर दूसरी कठिनाई हस्तलिखित ग्रंथों के साथ यह है कि उसके पृष्ठ एक दूसरे से चिपक जाते हैं। पुराने जमाने की स्याही के संबंध में शास्त्री जी ने उस दिन बताया कि उसमें गोंद भी हुआ करता था। गोंद वाले पृष्ठ चिपक जाया करते हैं। और उन चिपके हुए पन्नों को खोलना भी एक कला है। शास्त्री जी ने अपने भाषण में ऐसे ग्रंथों का खोलने की विधि आपको बता दी है। ग्रंथों के खुलने में न तो अक्षर उखड़ने चाहियें और न उसकी स्याही घुल जानी चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है और पृष्ठ न टूटें इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है। कुछ ग्रंथ तो जिल्द बँधे हुए होते हैं और कुछ पत्राकार। इन दोनों प्रकार के ग्रंथों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय इस बात को व्यवहार करने से पहिले अच्छी भाँति सोच लेना चाहिए। प्रत्येक रिसर्च स्कालर को उसके लिए एक विधि निश्चित कर लेनी चाहिए, जिससे कि उसके अक्षरों को और ग्रंथ को कोई क्षति न पहुँचे। एक और कठिनाई उसकी भाषा के संबंध में आती है। क्योंकि ग्रंथ एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए मिलते हैं। सूर सागर, रामचरित मानस आदि कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जिनका विस्तार क्षेत्र बहुत अधिक है। और हर क्षेत्र की लिखावट अलग-अलग है। कोई अक्षर किसी प्रकार लिखा जाता है, कोई किसी प्रकार। मैंने शास्त्री जी से प्रार्थना की कि वह इस प्रकार की अक्षरावली तैयार कर दें तो बड़ा अच्छा हो। उस अक्षरावली का एक प्रारंभिक रूप शास्त्री जी ने प्रस्तुत कर

स्वामियों या संरक्षकों से (२) हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह में संलग्न व्यक्तियों से अथवा अनुसंधाताओं से अपने काम के ग्रंथों का पता लगाकर उन्हें उपलब्ध कर लेना चाहिये । जब ग्रंथ आपको मिल गया तो पुस्तकालय वाले आपको बतायेंगे कि किन किन बातों का आपको ध्यान रखना है । जैसे आप नेशनल आर्काईव्ज दिल्ली में जाएं तो वे बतायेंगे कि आप उस हस्तलेख या डाक्यूमेन्ट पर कुछ लिखेंगे नहीं । विशेष सावधानी से पत्रों को उलटेंगे । हस्तलिखित ग्रंथों के कुछ कागज ऐसे होते हैं जो बहुत ही टूटने वाले होते हैं जरा हाथ लगाया कि टूटे । जहाँ पर विधिवत् हस्तलिखित ग्रंथों का काम होता है, वहाँ उन ग्रंथागारों में ऐसे खस्ता पत्रों पर पारदर्शी कागज दोनों तरफ लगा दिया जाता है, जिससे कि वह जहाँ तक हो सके टूटें नहीं और उसे पढ़ भी लिया जाय । लेकिन फिर भी जैसे कि अपने ही यहाँ है, अभी इतनी व्यवस्था तो नहीं है, इसलिए ये डर रहता है कि आप उसको छुएँगे तो वह कागज टूट जायगा और टूट जाने से बड़ी हानि होगी । कभी-कभी वह किनारे से भी टूट जाता तब उसे जोड़ दिया जा सकता है । कभी-कभी बीच-बीच में से ही उसका हिस्सा कट जाता है । यदि इस प्रकार के हस्तलिखित ग्रंथों को आप देखें तो इस बात का बहुत ध्यान रखें कि सफाई से उसे खोलने का प्रयत्न करें कोई एक चीज पीछे से लगाकर उसके सहारे से उसे खोलें क्योंकि यदि हस्तलिखित ग्रंथों को हानि पहुँच जाती है तो वह आपकी ही नहीं राष्ट्रीय संपत्ति की भी तथा ज्ञान की भी हानि हो जाती है । अत यह बहुत आवश्यक है कि इस तरह की सावधानी रखी जाए कि ग्रंथ को क्षति न पहुँचे । और उसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उस ग्रंथ पर कुछ लिखा न जाए । जो कुछ नोट लिए जाएँ वह अलग कागज पर लिखे जायें । फिर दूसरी कठिनाई हस्तलिखित ग्रंथों के साथ यह है कि उसके पृष्ठ एक दूसरे से चिपक जाते हैं । पुराने जमाने की स्याही के संबंध में शास्त्री जी ने उस दिन बताया कि उसमें गोंद भी हुआ करता था । और वाले पृष्ठ चिपक जाया करते हैं । और उन चिपके हुए पन्नों को खोलना भी एक कला है । शास्त्री जी ने अपने भाषण में ऐसे ग्रंथों को खोलने की विधि आपको बता दी है । ग्रंथों के खुलने में न तो अक्षर उखड़ने चाहिये और न उसकी स्याही घुल जानी चाहिए । इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है और पृष्ठ न टूटे इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है । कुछ ग्रंथ तो जिल्द बँधे हुए होते हैं और कुछ पत्राकार । इन दोनों प्रकार के ग्रंथों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय इस बात को व्यवहार करने के पहिले भली भाँति सोच लेना चाहिए । प्रत्येक रिसर्च स्कालर को इसके लिए एक विधि निश्चित कर लेनी चाहिए, जिससे कि उसके अक्षरों को और ग्रंथ को कोई क्षति न पहुँचे । एक और कठिनाई उसकी भाषा के संबंध में आती है । क्योंकि ग्रंथ एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए मिलते हैं । सूर सागर, रामचरित मानस आदि ऐसे ग्रंथ हैं जिनका विस्तार क्षेत्र बहुत अधिक है । और हर क्षेत्र की लिखावट अलग-अलग है । कोई अक्षर किसी प्रकार लिखा जाता है कोई किसी प्रकार । मैंने शास्त्री जी से प्रार्थना की कि वह इस प्रकार की अक्षरावली तैयार कर दें तो बड़ा अच्छा हो । उस अक्षरावली का एक प्रारंभिक रूप शास्त्री जी ने प्रस्तुत कर

स्वामियों या संरक्षकों से (५) हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह में संलग्न व्यक्तियों से अथवा अनुसंधानशालाओं से अपने काम के ग्रंथों का पता लगाकर उन्हें उपलब्ध कर लेना चाहिये । जब ग्रंथ आपको मिल गया तो पुस्तकालय वाले आपको बतायेंगे कि किन-किन बातों का आपको ध्यान रखना है । जैसे आप नेशनल आर्काईव्ज दिल्ली में जाएँ तो वे बतायेंगे कि आप उस हस्तलेख या डाक्यूमेण्ट पर कुछ लिखेंगे नहीं । विशेष सावधानी से पन्नों को उलटेंगे । हस्तलिखित ग्रंथों के कुछ कागज ऐसे होते हैं, जो बहुत ही टूटने वाले होते हैं, जरा हाथ लगाया कि टूटे । जहाँ पर विविध हस्तलिखित ग्रंथों का काम होता है, वहाँ उन ग्रंथागारों में ऐसे ों पर पारदर्शी कागज दोनों तरफ लगा दिया जाता है, जिससे कि वह वहाँ टूटे नहीं और उसे पढ़ भी लिया जाय । लेकिन फिर भी जैसे कि है, अभी इतनी व्यवस्था तो नहीं है, इसलिए मैं डर रहता है कि आप वह कागज जायगा और टूट जाने से बड़ी हानि होगी । कभी-कभी । टूट तब उसे जोड़ दिया जा सकता है । कभी-कभी उसका जाता है । यदि इस प्रकार के हस्तलिखित ग्रंथों इस ध्यान रखें कि सफाई से उसे खोलने का प्रयत्न कर । उसके सहारे से उसे खोलें क्योंकि यदि वह आपकी ही नहीं राष्ट्रीय संपत्ति भी है यह बहुत आवश्यक है कि इस तरह की और उसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है । नाट लिए जाएँ वह समय का हस्तलिखित ग्रंथों के साथ यह है पुराने जमाने की स्याही के उसमें गोंद भी हुआ हैं । और उन विपक आपस में ऐसे चिपका तो पधार उखड़ने भी ध्यान

खोलें

दिया है, जो उनके भाषण के अन्त के परिशिष्ट में दिया गया है। मैं चाहता था कि यह अक्षरावली आप लोगो के पास रहे, इस अक्षरावली को पूर्णत उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इसमें कालक्रम और देश भेद दोनो से अक्षर-विकास का अन्तर स्पष्ट किया गया हो। मैं समझता हूँ कि अक्षर-विकास के उपयोग मे कुछ कालक्रम भी मिलेंगे कुछ देशक्रम भी मिल जायगा। पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि से अक्षर-रूपो की तालिका प्रस्तुत हो जाने पर तो आप यह जान जायेंगे कि जिस प्रकार का अक्षर हमको मिल रहा है वह किस काल अथवा देश से सबधित है। अत अक्षरो की यह समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैसे महामहोपाध्याय गौरीशकर हीराचद ओझा जी ने प्राचीन लिपिमाला में शिलालेखो की अक्षरमाला ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत की, उसी प्रकार हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की अक्षरावली का इतिहास भी दसवी ग्यारहवी शताब्दी से आजतक का प्रस्तुत होना चाहिए। किन्तु जब तक ऐसी प्रामाणिक अक्षरावली तैयार नही होती, तब तक आरभिक सहायता ऊपर दी गयी अक्षरावली से ली जा सकती है। पर अनुसधाता को स्वय भी अपना मार्ग निकालना होगा। अक्षरावली कोई शास्त्री जी के पास पहले से तैयार थोडे ही थी कि जिससे शास्त्री जी पढने लग लए हो। न मेरे पास कोई पहिले से तैयार थी। इस के लिए तो मामान्य बुद्धि ही काम देती है। इसके लिए आवश्यक है कि आप लाग भी हस्तलिखित ग्रथो का पारायण करें और आवश्यक सूची अपनी बनाते चले जाएँ। सामूहिक उद्योग में भी मै विश्वास करता हूँ। आप लोग सब अपनी-अपनी अक्षरावली बनाएँ। यह अपनी सूची हमको भेज दें तो इस प्रकार की यह अक्षरावली हम लोग बनाकर के तैयार कर सकते है। अभी तो यह आवश्यक है कि किसी ग्रथ को पढने से पहिले, उस ग्रथ की अक्षरावली, आप स्वय तय्यार कर लें। यथार्थ में हर ग्रथ में आपको उसकी एक अलग अक्षरावली मिलेगी। यदि एक ही ग्रथ मे विविध लेख-लिपियाँ मिलती है अर्थात् कुछ अश एक लिपिक द्वारा लिखा गया है, और फिर आगे किसी दूसरे की कलम मिलती है तो नोट लेते समय इस बात का भी उल्लेख आवश्यक है कि कितने पृष्ठ एक लेखनी से लिखे हुए है और कितने दूसरी से क्योकि लेखनी भी कभी-कभी पुस्तक की प्रामाणिकता के निर्णय में बहुत योग देती है, और आपको जहाँ पुस्तक देखनी होती है, वहाँ उसकी प्रामाणिकता भी देखनी होती है। इसी प्रकार कही-कही शब्दो की छूट हो जाय, तो उनको भी आपको उसी प्रकार नोट कर लेना है और अपनी बुद्धि का उपयोग उसमें तब करना है जब उसी प्रकार की और सामग्री आपको मिले। तो यह तैयारी आपको एक हस्तलिखित ग्रथ के सम्बन्ध में कर लेनी चाहिए। फिर हस्तलिखित ग्रथ के सबध में दो-तीन और बातें भी जरूरी होती है ग्रथ के आरम्भ में लेखक या तो अपने उद्देश्य का परिचय देता है मगलाचरण के बाद। फिर वह पुष्पिका भी आती है जिसमें कि लेखक अपने ग्रथ के आश्रयदाता का और फिर अपने ग्रथ का परिचय देता है। परिचय की पुष्पिका में कभी-कभी सन् सवत भी दे देता है। सन् सवत कभी नही, भी देता है। फिर उनमें अन्त में भी एक पुष्पिका होती है। अत की पुष्पिका में भी इसी प्रकार से परिचय देता है, कि कौन इस का लेखक है, किस के कहने से यह लिखी

गई है जिस के पठनार्थ लिखी गयी है और यह ग्रंथ कब संपूर्ण होता है और जिस सन् संवत में यह संपूर्ण होता है। प्रारंभ में जो सन् संवत दिया जाता है वह प्रायः ग्रंथ-प्रारंभ करने का होता है और अंत में जो दिया जाता है वह प्रायः ग्रंथ की समाप्ति का होता है। लेकिन इन दोनों को देख कर इस सम्बन्ध में परीक्षा द्वारा निश्चय कर सकने की जरूरत है। जब आप ग्रंथों के नोट लें तो इन पुष्पिकाओं को अवश्य उतारकर लेने की कोशिश करें। फिर अध्याय होते हैं। अध्याय के आदि और अंत में भी इस प्रकार की पुष्पिकाएं बहुधा आपको मिलती हैं। या इस प्रकार से लेखक के सम्बन्ध की उसके निजी परिचय की या पंक्तियाँ उस में मिलें और ग्रंथ के विषय से सम्बन्ध रखने वाली जो सूचनाएं आपको मिलें हस्तलिखित ग्रंथों के नोट लेते समय उन सूचनाओं को भी पर्याप्त महत्त्व दें और उनको भी नोट कर लें। रचना संवत् के साथ-साथ लिपि संवत् भी नकल करने वाला दे देता है। जिस के लिए वह प्रतिलिपि की गयी इस का भी उल्लेख रहता है। इन सब को लिख लेना चाहिए। चूंकि ग्रंथ की प्रामाणिकता के लिए ये सभी सूचनाएं भी बहुत आवश्यक हुआ करती हैं। तो इन सब बातों के बाद रचना संवत के सम्बन्ध में आप का ध्यान इस बात की ओर दिलाना चाहता हूँ कि रचना संवत जो प्रायः अधिकांश ग्रंथों में लिखते हैं वे अंकों में नहीं मिलते शब्दों में मिलते हैं। इसी लिए उन शब्दों की अपने पास एक सूची होनी चाहिए कि किस अंक के लिए कौन कौन से शब्द प्रयोग किए जा सकते हैं। ऐसी एक सामान्य सूची बना ली जा सकती है। हालांकि कभी-कभी विशिष्ट प्रयोग भी मिलेंगे। उस विशिष्ट के लिए विशेष उपाय करना पड़ेगा। फिर भी यदि एक सामान्य सूची आपके पास बनी हुई होगी तो वह निश्चय ही बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। इसके लिए महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी की प्राचीन लिपि माला से एक सूची यहाँ इस भाषण के परिशिष्ट रूप में दी जा रही है। और यह तो बताया ही जा चुका है कि ऐसे शब्दों में अंकानाम वामतो गति। अंकों की उलटी गति होती है सीधी तरफ से बाईं तरफ को पढ़ पढ़े जाते हैं। बाईं से सीधी तरफ नहीं पढ़े जाते। सं. १९९२ लिखना है तो २ पहिले आएगा ९ बाद में आएगा उसके बाद फिर ९ आएगा। एक सबके बाद में आएगा। इस तरह से फिर उसको उलट कर पढ़ सकते हैं। हस्तलिखित ग्रंथों में कभी-कभी अशिष्ट तिथियाँ रहती हैं। अतः तिथियों की प्रामाणिकता परीक्षा द्वारा सिद्ध की जानी चाहिए। इसके लिए एक अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ मिलता है। उसका नाम है "इंडियन एफेमेरीज़"। इसकी सहायता से ज्योतिष की गणना से ऐतिहासिक घटनाओं की जांच तो आप कर सकते हैं तथा और भी कई तिथियों से प्रामाणिकता निर्धारित की जा सकती है।

परिशिष्ट

(क)

कुछ वे ग्रथागार जिनमें हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथ विशेष सग्रहीत है

१ क० मु० हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा ।
२ काशी नागरी प्रचारिणी सभा ।
३ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।
४ हिन्दुस्तानी एकाडमी, प्रयाग ।
५ नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा ।
६ लक्ष्मी जैन पुस्तकालय, बेलनगज, आगरा ।
७ राजस्थान पुरातत्व मदिर, जोधपुर ।
८ शोध-सस्थान, उदयपुर विद्यापीठ, उदयपुर ।
९ विद्या-विभाग, काकरौली ।
१० जालान पुस्तकालय, कलकत्ता ।
११ खुदाबख्श लाइब्रेरी, पटना ।
१२ जैन भडार, जयपुर ।
१३ अनूप सस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर ।
१४ अभय जैन पुस्तक भडार, नाहटो की गवाड, बीकानेर ।
१५ व्रज साहित्य मडल, मथुरा ।
१६ वृदावन के मदिरो के ग्रथ-भडार ।
१७ बिहार राष्ट्रभाषा, परिषद, पटना ।

(ख)

कुछ वे खोज रिपोर्टे जिनमें हिन्दी के ग्रथो का उल्लेख है

१ कैटालोगस कैटालैगोरम, टसीटरी ।

२ हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज के विवरण (सन् १९००) से काशीनागरी प्रचारिणी सभा काशी ।

३ राजपूताने में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज (३ खड), उदयपुर विद्यापीठ, उदयपुर ।

५ मत्स्यप्रदेश में हिन्दी-साहित्य—(शोध प्रबध)—राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर ।

६ हिंदी हस्तलिखित पुस्तको का विवरण—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना ।

(ग)

वह ग्रथ जिनसे सन-सवत् और तारीखो की प्रामाणिकता जाची जा सकती है—दीवान बहादुर स्वामी कन्नू पिल्लै की 'इडियन एफीमेरीज़' ।

(ग)[1]

कुछ उन व्यक्तियों के नाम जिनसे हस्तलिखित ग्रंथों के संबंध में विशेष सूचनायें मिल सकती हैं १ श्री अगरचंद नाहटा नाहटों की गवाड़ बीकानेर । २ पं जवाहरलाल चतुर्वेदी कुंआवाली गली मथुरा । ३ उदयशंकर शास्त्री क मु हिन्दीविद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय आगरा । ४ पं कण्ठमणि शास्त्री विद्याविभाग कांकरौली । ५ कैप्टेन शूरवीरसिंह, एडीशनल मजिस्ट्रेट बुलंदशहर ।

(घ)

प्राचीन लिपि माला[2] से उद्धरण अंकों के लिए शब्दावली

ये सांकेतिक शब्द मनुष्य के अंग खुदों अथवा उनके चरणों के अमर देवता साहित्य के ग्रन्थ ग्रह नक्षत्र आदि एवं संसार के अनेक निश्चित पदार्थों की संख्या पर से कल्पित किये गये हैं । प्रत्येक नाम के लिए संस्कृत भाषा में अनेक शब्द होने से प्रत्येक संख्या के लिए कई शब्द मिलते हैं जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं ।

०—शून्य ख गगन आकाश अंबर अभ्र वियत् व्योम अंतरिक्ष नभ पूर्ण रंध्र आदि ।

१—आदि शशि इंदु, विधु चन्द्र शीतांशु शीतरश्मि सोम शशांक सुधांशु, अब्ज भू भूमि क्षिति धरा उर्वरा गो वसुंधरा पृथ्वी क्षमा धरणी वसुधा इला कु मही रूप पितामह नायक तनु आदि ।

२—यम यमल अश्विन नासत्य दस्र लोचन नेत्र अक्षि दृष्टि चक्षु, नयन ईक्षण पक्ष बाहु कर कर्ण कुच ओष्ठ गुल्फ जानु, जंघा द्वय द्वंद्व युगल युग्म अयन कुटुंब रविचन्द्रौ आदि ।

३—राम गुण त्रिगुण लोक त्रिजगत् भुवन काल त्रिकाल त्रिगत त्रिनेत्र सहोदरा अग्नि वह्नि पावक वैश्वानर दहन तपन हुताशन ज्वलन शिखिन कृशानु होतृ आदि ।

४—वेद श्रुति समुद्र सागर, अब्धि जलधि उदधि जलनिधि अंबुधि केन्द्र वर्ण आश्रम युग तुर्य कृत अय आय दिश् दिशा बंधु कोष्ठ वर्ण आदि ।

५—बाण शर सायक इषु भूत पर्व प्राण पांडव अर्थ विषय महाभूत तत्व, इंद्रिय रत्न आदि ।

६—रस अंग काय ऋतु, मासार्ध दर्शन राग अरि शास्त्र तर्क कारक आदि ।

७—नग अग भूभृत् पर्वत शैल अद्रि गिरि ऋषि मुनि अत्रि वार स्वर धातु अश्व तुरग वाजि छंद धी कलत्र आदि ।

---

१ ये सूचियां पूर्ण नहीं पर आरम्भ में शोधकर्ता का सहायक हो सकती हैं । वह इनसे आरम्भ करके आगे अपनी आवश्यकतानुसार और नाम बढ़ा सकता है ।

२ भारतीय प्राचीन लिपि माला से रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा तृतीय संस्करण वि सं १९७५ पृ १२ —१२८ ।

८ = वसु, अहि, नाग, गज, दति दिग्गज, हस्तिन, मातग, कुजर, द्विप, सर्प, तक्ष सिधि, भूति, अनुष्टुभ, मगल, आदि ।

९ = अक, नद, निधि, ग्रह, रध्र, छिद्र, द्वार, गो, पवन, आदि ।

१० = दिश, दिशा, आशा, अगुलि, पक्ति, ककुभ्, रावणशिरम, अवतार, कर्मन् आदि ।

११ = रुद्र, ईश्वर, हर, ईस, भव, भर्ग, शूलिन, महादेव, अक्षौहिणी, आदि ।

१२ = रवि, सूर्य, अर्क, मार्तंड, द्युमणि, भानु, आदित्य, दिवाकर, मास, राशि, व्यय आदि ।

१३ = विश्वेदेवा , काम, अतिजगती, अघोष, आदि,
१४ = मनु, विद्या, इद्र, शक्र, लोक, आदि ।
१५ = तिथि, घर, दिन, अहन्, पक्ष, आदि ।
१६ = नृप, भूप, भूपति, अष्टि, कला आदि ।

१७ = अत्यष्टि,	१८ = धृति,
१९ = अतिधृति	२० = नख, कृति
२१ = उत्कृति, प्रकृति, स्वर्ग	२२ = कृती, जाति
२३ = विकृति	२४ = गायत्री, जिन, अर्हत् सिद्ध आदि ।
२५ = तत्व	२७ = नक्षत्र, उडु, भ, आदि
३२ = दत, रद, आदि	३३ = देव, अमर, त्रिदश, सुर आदि
४० = नरक	४८ = जगती
४९ तान	

इस प्रकार शब्दो से अक बतलाने की शैली बहुत प्राचीन है। वैदिक साहित्य में भी कभी कभी इस प्रकार से अक बतलाने के उदाहरण मिल जाते है जैसे कि शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणो में ४ के लिए "कृत" शब्द कात्यायन और लाट्यायन श्रौतसूत्रो में २४ के लिए गायत्री और ४८ के लिए जगती और वेदाग ज्योतिष में १, ४, ८, १२ और २७ के लिए क्रमश रूप "अय" "गुण" "युग" और "भसमूह" शब्दो का प्रयोग मिलता है, पिगल के छद सूत्र में तो कई जगह अक इस तरह दिए हैं। "मूलपुलिश सिद्धात' में भी इस प्रकार के अको का होना पाया जाता है। वराहमिहिर की "पचसिद्धातिका ई० स० ५०५, ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मस्फुटसिद्धात, ६ (ई० स० ६२८), लल्ल के शिष्यधीवृद्धिद, (ई० स० ६३८, के आस पास) में तथा ई० स० की सातवी शताब्दी के पीछे के ज्योतिष के आचार्यों के ग्रन्थो में हजारो स्थानो पर शब्दो से अक वतलाये हुए मिलते है और अब तक सस्कृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओ के कवि कभी-कभी अपने ग्रथो की रचना का सवत् इसी शैली से देते है, प्राचीन शिलालेखो तथा ताम्रपत्रो में भी कभी-कभी इस शैली से दिये हुए अक मिल जाते है।

मि० के ने भारतीय गणित शास्त्र नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि शब्दो मे अक प्रकट करने की शैली, जो असाधारण रूप से लोक प्रिय हो गई और अब तक

श्री रमानाथ सहाय

पुस्तकाध्ययन तथा सामग्री निबंधन

शोध के सिद्धान्त, शोध-विषय के चयन आदि के विषय में आप पिछले २-३ दिन में पर्याप्त सुन चुके होंगे। शोध की विशेषता भी आपको विदित होगी। शोध निबन्ध अन्य निबन्धो से भिन्न होता है अतएव उसके लिए पढने की पद्धति, नोट्स लेने की पद्धति आदि भी भिन्न होती हैं। शोध निबन्ध को सर्वप्रथम thorough होना चाहिए अर्थात् शोधकर्त्ता को अपने सीमित विषय में तब तक का हुआ सम्पूर्ण ज्ञान सकलित करना है और उसे अपने निबध में यथोचित प्रयुक्त करना है। दूसरे शोधप्रबन्ध का प्रत्येक वाक्य responsible (प्रमाणित) होना चाहिए। कोई भी ऐसा तथ्य न हो जिसके पीछे प्रमाणो का स्तम्भ न हो अतएव प्रत्येक विशेष नूतन कथन की पुष्टि तथ्यो से तथा उल्लेखो से करनी होती है और स्रोत को पाद टिप्पणी में देना होता है। अतएव शोधकार्य में सर्वत्र व्यापकता तथा accuracy चाहिए और इस के लिए उपयुक्त साधनो को अपनाना चाहिए—जैसे ठीक ढग से नोट्स उतारना, ठीक ढग से पुस्तक सूची बनाना तथा ऐसे कार्य करना कि समय का पूरा-पूरा उपयोग हो सके।

इस ओर पुस्तकाध्ययन की महत्ता स्पष्ट है। किन्तु कुछ लोग कभी-कभी ऐसे मिल जाते है जो शोधकार्य तो कर रहे हैं किन्तु अपने से पहले किये कार्य को जिन्होंने पूरा-पूरा नही पढा है। वे दावा करते है कि वे clean slate से कार्य कर रहे हैं और वे मौलिक शोध करेंगे। किन्तु ये इनकी भूल है। मनुष्य इतनी उन्नति इसी कारण कर सका है कि प्रत्येक मनुष्य अपने पूर्वजो के अनुभवो को काम लाता है। जहाँ वे छोड गए थे उससे आगे चलता है। पूर्वकृत कार्य को न पढ कर मौलिक शोधकर्ता (1) कभी कभी ऐसे परिणाम निकाल देता है जो साधारणत पहले अनेको द्वारा निकले हुए थे या ऐसी पद्धति से कार्य करता है जो अब out of date अथवा अवैज्ञानिक सिद्ध हो चुकी है। अतएव प्रत्येक शोध के विद्यार्थी को अपने से पहले किए शोधकार्यों का गम्भीर पठन व मनन करना चाहिए। इससे यह लाभ होगा कि पहली की सुलझी उलझनो को फिर से सुलझाना न पडेगा, पूर्वकृतो ने किस किस सामग्री को अपनाया, किन प्रणालियो को प्रयुक्त किया, किन परिणामो पर वे पहुँचे—ये सब सम्मुख समस्या को हल करने में सहायक होंगे और शोधकर्ता ज्ञात से अज्ञात के मार्ग पर कुछ आगे तक देख सकेगा और फिर अभ्यस्त हो निज का मार्ग बना सकेगा।

प्रचलित है ई॰ स॰ की नवी शताब्दी के आस पास संभवतः पूर्व की ओर से इस देश में प्रवृत्त हुई (पृ॰ ३१) मि॰ के॰ का यह कथन भी सर्वथा विश्वास योग्य नहीं है क्योंकि वैदिक काल से लगा कर ई॰ स॰ की सातवीं शताब्दी तक के संस्कृत पुस्तकों में भी इस शैली से दिये हुए अंकों के हजारों उदाहरण मिलते हैं। यदि मि॰ के॰ ने वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका को ही पढ़ा होता तो भी इस शैली के अनेक उदाहरण मिल जाते।

अक्षरों से अंक बतलाने की भारतीय शैली

ज्योतिष आदि के श्लोकबद्ध ग्रन्थों में प्रत्येक अंक के लिए शब्द लिखने से विस्तार बढ़ जाता था जिसको संक्षेप करने के लिए अक्षरों से अंक प्रकट करने की रीतियाँ निकाली गईं। उपलब्ध ज्योतिष के ग्रन्थों में पहले पहिल इस शैली से दिए हुए अंक "आर्यभट प्रथम" के आर्यभटीय आर्य सिद्धान्त में मिलते हैं जिसकी रचना ई॰ स॰ ४९९ में हुई थी। उक्त पुस्तक में अक्षरों से अंक नीचे लिखे अनुसार बतलाये हैं।

क—१ ख—२ ग—३ घ—४ ङ—५, च—६ छ—७ ज—८ झ—९
ञ—१ ट—११ ठ—१२ ड—१३ ढ—१४ ण—१५ त—१६ थ—१७
द—१८ ध—१९ न—२ प—२१ फ—२२ ब—२३ भ—२४ म—२५
य—३ र—४० ल—५ व—६ श—७ ष—८ स—९, ह—१
अ—१ इ—१ उ—१ ऋ—१ लृ—१
ए—१ ऐ—१ ओ—१
औ—१ ।

इस शैली में स्वरों में ह्रस्व-दीर्घ का भेद नहीं है। व्यंजन के साथ जहाँ स्वर मिला हुआ होता है वहाँ व्यंजनसूचक अंक को स्वरसूचक अंक से गुणना होता है और संयुक्त व्यंजन के साथ जहाँ स्वर मिला होता है वहाँ उक्त संयुक्त व्यंजन के प्रत्येक घटक व्यंजन के साथ वही माना जाता है जिससे प्रत्येक व्यंजन सूचक अंक को उक्त स्वर के सूचक अंक से गुण कर गुणनफल जोड़ना पड़ता है। इस शैली में कभी-कभी एक ही संख्या भिन्न अक्षरों से भी प्रकट होती है। ज्योतिष आचार्यों के लिए आर्यभट की यह शैली बहुत ही संक्षिप्त अर्थात् थोड़े शब्दों में अधिक अंक प्रकट करने वाली थी परन्तु किसी दूसरे लेखक ने इसको अपनाया नहीं और न यह शैली प्राचीन शिलालेखों तथा दानपत्रों में मिलती है जिसका कारण इसके शब्दों का कर्णकटु होना हो अथवा आर्यभट के भूभ्रमणवादी होने से आस्तिक हिन्दुओं ने उसका बहिष्कार किया हो।

आर्य भट "दूसरे" ने जो लल्ल और ब्रह्मगुप्त के पीछे परन्तु भास्कराचार्य से पूर्व अर्थात् ई॰ स॰ की ११ वी शताब्दी के आस पास हुआ अपने आर्यसिद्धान्त में १ से ९ तक के अंक और शून्य के लिए नीचे लिखे अक्षर माने हैं।

१	२	३	४	५	६	७	८	९	०
क् ट् प् य्	ख् ठ् फ् र्	ग् ड् ब् ल्	घ् ढ् भ् व्	ङ् ण् म् श्	च् त् ष्	छ् थ् स्	ज् द् ह्	झ् ध् [ळ]	ञ् न्

इस क्रम में केवल व्यंजनों से ही अंक सूचित होते हैं, स्वर निरर्थक या शून्य-सूचक समझे जाते हैं और संयुक्त व्यंजन के घटक व्यंजनों में से प्रत्येक से एक-एक अंक प्रगट होता है। संस्कृत लेखकों की शब्दों से अंक प्रगट करने की सामान्य परिपाटी यह है कि पहले शब्द से इकाई दूसरे से दहाई, तीसरे से सैंकड़ा आदि अंक सूचित किये जाते हैं। 'अंकानां वामतो गतिः'' परन्तु आर्यभट ने अपने इस क्रम में उक्त परिपाटी के विरुद्ध अंक बतलाये हैं, अर्थात् अन्तिम अक्षर से इकाई, उपान्त्य से दहाई। इस क्रम में १ का अंक क, ट, प, या य अक्षर से प्रगट होता है जिससे इसको "कटपयादि" क्रम कहते हैं।

कभी-कभी शिलालेखों, दानपत्रों, तथा पुस्तकों के संवत् लिखने में अंक "कटपयादि" क्रम से दिये हुए मिलते हैं, परन्तु उनकी और आर्यभट "दूसरे" की उपर्युक्त शैली में इतना अन्तर है कि उनमें "अंकानां वामतो गति" के अनुसार पहिले अक्षर से इकाई, दूसरे से दहाई आदि के अंक बतलाये जाते हैं, और संयुक्त व्यंजनों में केवल अन्तिम व्यंजन अंक सूचक होता है, न कि प्रत्येक व्यंजन।

ऊपर वर्णन की हुई अक्षरों से अंक सूचित करने की शैलियों के अतिरिक्त दक्षिण में मलाबार और तेलुगु प्रदेश में पुस्तकों के पत्रांक लिखने में एक और भी शैली प्रचलित थी जिसमें क से ळ तक के अक्षरों से क्रमश १ से ३४ तक के अंक फिर बारखडी (द्वादशाक्षरी) के क्रम से का से ळा तक आ की मात्रा सहित व्यंजनों से क्रमश ३५ से ६८ तक, जिसके बाद कि से ळि तक के इ की मात्रा सहित व्यंजनों से ६९ से १०२ तक के और उनके पीछे के अंक ई, ० ० उ, आदि स्वर सहित व्यंजनों से प्रकट किये जाते थे। यह शैली शिलालेख और ताम्रपत्र आदि में नहीं मिलती।

अक्षरों से अंक प्रकट करने की रीति आर्यभट प्रथम ने ही प्रचलित की हो ऐसा नहीं है क्योंकि उससे बहुत पूर्व भी उसके प्रचार का कुछ-कुछ पता लगता है। पाणिनि के सूत्र १ ३ ११ पर के कात्यायन के वार्तिक और कैयट के दिए हुए उसके उदाहरण से पाया जाता है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में अधिकार "स्वरित" नामक वर्णात्मक चिन्हों से बतलाये गये थे और वे वर्ण पाणिनि के शिवसूत्रों के वर्णक्रम के अनुसार क्रमश सूत्रों की संख्या प्रकट करते थे अर्थात् अ = १, इ = २, उ = ३ आदि।

{अध्याय ।
परिशिष्ट ।
पुस्तकसूची ।
अनुक्रमणिका ।

फुटनोट (पादटिप्पणी)—पृष्ठ के पाद में ।

इन में द्वितीय अन्तर्पृष्ठ से पुस्तक सूची कार्ड वनाने के लिए पूर्ण सूचना मिल जाती है ।

प्राक्कथन आमुखादि को भी पढ़ लेना चाहिए मामूली तौर से विपयसूची से विदित हो पाएगा कि पुस्तक कहाँ तक शोध के लिए उपयुक्त है। जिन अध्यायो से लाभ हो उनके नोटस् ले लेने चाहिएँ ।

पुस्तक सूची से अपने Bibliography cards वनाएगे अतएव यह एक महत्त्वपूर्ण अग है ।

अनुक्रमणिका की साधारणतया पाठक उपेक्षा करते है किन्तु यदि अनुक्रमणिका अच्छी हो तो इस से वढकर कोई भाग उपयोगी नही है। अपने विषय के विविध पाठ्य विपय अनुक्रमणिका में देखे, पृष्ठ नोट किया और उपयुक्त अश पढ़ डाले । यदि समयाभाव हो तो अनुक्रमणिका से ही पढना चाहिए ।

फुटनोट (पाद टिप्पणी) यद्यपि पाद की टिप्पणी होने के कारण गौण महत्त्व के माने जाते है किन्तु शोध के विद्यार्थी के लिए ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । फुटनोट दो प्रकार के होते है ।

(अ) व्याख्या देने के लिए—जिन में लेखक अपने स्वतन्त्र विचारो का, सम्वद्ध विपय का, उसी विपय के उच्च गम्भीरतर विचारो का अथवा सम्वद्ध प्रश्नो का सकेत देता है। साधारण पाठक के लिए ये वेकार है किन्तु शोध के विद्यार्थी को ये कभी-कभी नई सूझ दे देते है ।

(आ) सूचना का स्रोत देने के लिए—ये फुटनोट शोध के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है। फुटनोट, मुख्य लेख में आए यदाकदा उल्लेख और पुस्तक-सूची ये—ही शोध के विद्यार्थी के कार्य को आगे वढाती है । इन से आगे अध्ययन करने के लिए सकेत मिलते है और पुस्तकसूची-कार्ड वढते जाते है । फुटनोट में स्रोत का पूरा विवरण भी मिल जाता है यथा-लेखक का नाम पुस्तक का नाम आदि। सर्वप्रथम उल्लेख में प्रकाशकादि का नाम, सस्करणादि भी होता है (यदि वहाँ न मिले तो अन्त में पुस्तक सूची देखिए)।

अग्रेजी की पुस्तको में फुटनोटो में कुछ ऐसे सक्षेप चिह्न मिलते हैं जिन के पहले से न जानने पर कठिनाई आ पडती है । सुवोधता के लिए वे नीचे दिए जा रहे हैं—

सख्याओ के पूर्व

p = page   pp = pages
l = line   ll = lines

पुस्तकें तथा उनके भाग

शोधकार्य में उन विद्यार्थियों का जिनका कार्य विज्ञान की प्रयोगशाला में नहीं है पुस्तकों का पढ़ना सबसे बड़ा कार्य है क्योंकि शोध सामग्री का मुख्य आधार पुस्तक-बद्ध ज्ञान है। किन्तु पुस्तकबद्ध सामग्री पुस्तक के बाह्य आकार प्रकार से कई भागों में बद्ध की जा सकती है जिनमें मुख्य ये हैं—

(क) पुस्तकें—एक या अनेक लेखकों से लिखी।
पुस्तकें—मूल और अनुवाद सहित।
पुस्तकें—सम्पादित।

(ख) पत्रिकाएँ—पाक्षिक मासिक द्विमासिक त्रैमासिक चातुर्मासिक अर्धवार्षिक वार्षिक।

(ग) समाचारपत्र—दैनिक साप्ताहिक।

(घ) विशेष प्रकाशन—बुलेटिन।
पम्फलेट।
कार्यविवरण Proceedings (प्रासीडिंग)।
विवरण Reports (रिपोर्ट)।

(ङ) कोष विश्वकोषादि (Reference books) सन्दर्भग्रन्थ।

पुस्तकों के निम्नलिखित मुख्य भाग हैं —
मुखपृष्ठ
अन्तर्पृष्ठ प्रथम—(जिल्द के पृष्ठ के बाद) पुस्तक का नाम।
अन्तर्पृष्ठ प्रथम के पीछे—रिक्त स्थान।
(अथवा उसी लेखक ग्रंथमाला आदि की अन्य पुस्तकों की सूची)।
अन्तर्पृष्ठ द्वितीय—प्रकाशन माला (सब से ऊपर)।
पुस्तक का नाम।
(संक्षिप्त व्याख्या)।
लेखक का नाम।
संस्करण।
प्रकाशन
(प्रकाशन वर्ष-मूल्य)।
अन्तर्पृष्ठ द्वितीय के पीछे—नीचे मुद्रक (प्रायस्)।
प्रकाशन वर्ष-मूल्य।
संस्करण प्रकाशित पुस्तक संख्या।
भेंट।

प्राक्कथन आमुखादि।
विषयसूची।
भूमिका।

{अध्याय ।
परिशिष्ट ।
पुस्तकसूची ।
अनुक्रमणिका ।

फुटनोट (पादटिप्पणी)—पृष्ठ के पाद में ।

इन में द्वितीय अन्तर्पृष्ठ से पुस्तक सूची कार्ड बनाने के लिए पूर्ण सूचना मिल जाती है ।

प्राक्कथन आमुखादि को भी पढ़ लेना चाहिए मामूली तौर से विषयसूची से विदित हो पाएगा कि पुस्तक कहाँ तक शोध के लिए उपयुक्त है। जिन अध्यायो से लाभ हो उनके नोटस् ले लेने चाहिएँ ।

पुस्तक सूची से अपने Bibliography cards बनाएगे अतएव यह एक महत्त्वपूर्ण अग है ।

अनुक्रमणिका की साधारणतया पाठक उपेक्षा करते है किन्तु यदि अनुक्रमणिका अच्छी हो तो इस से बढकर कोई भाग उपयोगी नही है। अपने विषय के विविध पाठ्य विषय अनुक्रमणिका में देखे, पृष्ठ नोट किया और उपयुक्त अश पढ डाले । यदि समयाभाव हो तो अनुक्रमणिका से ही पढना चाहिए ।

फुटनोट (पाद टिप्पणी) यद्यपि पाद की टिप्पणी होने के कारण गौण महत्त्व के माने जाते है किन्तु शोध के विद्यार्थी के लिए ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । फुटनोट दो प्रकार के होते हैं ।

(अ) व्याख्या देने के लिए—जिन में लेखक अपने स्वतन्त्र विचारो का, सम्बद्ध विपय का, उसी विपय के उच्च गम्भीरतर विचारो का अथवा सम्बद्ध प्रश्नो का सकेत देता है। साधारण पाठक के लिए ये बेकार है किन्तु शोध के विद्यार्थी को ये कभी-कभी नई सूझ दे देते हैं ।

(आ) सूचना का स्रोत देने के लिए—ये फुटनोट शोध के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। फुटनोट, मुख्य लेख में आए यदाकदा उल्लेख और पुस्तक-सूची ये—ही शोध के विद्यार्थी के कार्य को आगे बढाती हैं। इन से आगे अध्ययन करने के लिए सकेत मिलते है और पुस्तकसूची-कार्ड बढते जाते हैं। फुटनोट में स्रोत का पूरा विवरण भी मिल जाता है यथा-लेखक का नाम पुस्तक का नाम आदि। सर्वप्रथम उल्लेख में प्रकाशकादि का नाम, सस्करणादि भी होता है (यदि वहाँ न मिले तो अन्त में पुस्तक सूची देखिए)।

अग्रेजी की पुस्तको में फुटनोटो में कुछ ऐसे सक्षेप चिह्न मिलते हैं जिन के पहले से न जानने पर कठिनाई आ पडती है । सुबोधता के लिए वे नीचे दिए जा रहे है—

सख्याओ के पूर्व

p = page pp = pages
l = line ll = lines

संख्या के पश्चात्

f ff विषय आगे चल रहा है

अन्य

cf c (circa)-approximate (data)
cp Sic
qv
lc loc cit = in the place cited. In the passage last referred to same source if other references intervene.
Opcit (= the work cited)
Ibid (Ibidem = Same) Seccessive ref. to same Source
Supra
Infra

पुस्तकों का पढ़ना

शोध निबन्ध की पूर्ण योजना को ध्यान में रखते हुए निर्देशक के निर्देशानुसार प्रत्येक पुस्तकों को आधारपुस्तकें मानकर पढ़ना चाहिए और साथ साथ क्रम से नोट्स् notes लेने चाहिएँ व पुस्तक सूची कार्ड Bibliography cards बनाने चाहिए। कभी-कभी Encyclopedia या किसी प्रमाण लेख (जिस में उल्लेख पेयमित हो) को लेकर भी चला जा सकता है। एक बार विषय पकड़ में आ गया तो पुस्तक सूची कार्ड Bibliography cards बढ़ते जाएँगे और जितना उन्हें पढ़ेंगे उतने उल्लेख और मिलते जाएंगे और कार्य चल निकलेगा।

अतएव सर्वप्रथम किसी एक पुस्तक पढ़ने का निश्चय कर निम्नलिखित वस्तुएँ अपने पास रखें —

१ (अ) (Blank Bibliography cards) रिक्त पुस्तकसूची कार्ड व
(आ) उनकी (Index file) क्रमसूचक फाईल
२ (अ) नोटस् लेने के लिए कागज
(आ) उन की (Index file) क्रम सूचक फाईल
३ एक (Index file) विषय क्रमानुसार क्रमसूचक फाईल

पुस्तक सूची कार्ड बनाना

यह हम अभी बता आए हैं कि पुस्तकालय में या अन्यत्र पुस्तकाध्ययन करते समय सारे पुस्तक-सूची कार्ड (विभिन्न रंग के जैसा कि आपने निश्चित किया हो) अवश्य आप के पास होने चाहिएं। जहाँ कहीं आप को पढ़ते समय किसी अन्य पुस्तक का या अन्य लेख का (चाहे वह पत्रिका समाचार पत्र पैम्फलेट आदि कहीं हो) उल्लेख आए आप उस का कार्ड अवश्य बना लें। इस प्रकार आप के Bibliography cards (पुस्तक सूची कार्ड)

निरन्तर बढ़ते जाएँगे । किन्तु जैसा कि अभी बताया जाएगा आप उन्हें क्रमानुसार अवश्य रखते जाएँ ताकि बार-बार एक ही पुस्तक कार्ड, असावधानी या प्रमाद के कारण न बनता जाए । यदि आप को सन्देह हो कि अमुक पुस्तक अथवा लेख का कार्ड बन चुका है तो तुरन्त क्रम में देख लीजिए ।

पुस्तक सूची कार्ड ३" × ५" (बेहतर है कि ४" × ६") के हों । विभिन्न श्रेणियों की पाठ्य सामग्री के कार्ड बनाने की विभिन्न प्रणालियाँ हैं । अतएव उन्हें भली भाँति समझ लेना चाहिए ।

		पढ़ने की तिथि
°		
°	प्रथम उल्लेख पुस्तक पृष्ठ	
पुस्तकालय का नाम		कैटेलौग न०

पुस्तक

(अ) लेखक का नाम (प्रसिद्ध नाम, परनाम, नाम) [लेखकों का नाम]
पुस्तक का नाम (रेखांकित)
सस्करण

प्रकाशक का नाम व पता (नगर-प्रकाशक का पता) प्रकाशन वर्ष
(ग्रन्थमाला नाम-सख्या)

(आ) अनुवादक, सम्पादक (यदि मूल लेखक भी है), सवर्धनकर्त्ता का नाम
पुस्तक नाम के पश्चात् आएगा ।

लेख-पत्रिकादि

(अ) लेखक का नाम
पत्रिका 'लेख का शीर्षक' (दोनों ओर quotation Commas के अन्दर)
पत्रिका का नाम
वर्ष (Volume) अंक पृष्ठ
(दिनांक) (ब्रेकेट के)

(आ) सेपाक का नाम (यदि हो)
पैम्फलेट बुलेटिन कमेटी का नाम (यदि व्यक्ति का न हो)
"शीर्षक'
प्रकाशन नाम (Bulletin, Proceeding pamphlet series)
प्रकाशन संस्था issued by
वर्ष अंक पृष्ठ
(दिनांक)

लेख-समाचार पत्र

लेखक का नाम (यदि हो)
'शीर्षक' [यदि शीर्षक न हो तो बना लीजिए] और बड़े ब्रेकेट में रखिए।
समाचार पत्र का नाम (संस्करण सोकस डाक)
दिनांक पृष्ठ कालम

लेख-महाकोषादि

लेखक का नाम
"शीर्षक"
ग्रन्थ नाम (संस्करण)
वर्ष खण्ड पृष्ठ

ऊपर के रिक्त स्थान में उपरिलिखित सूचनाओं में से जो उल्लेख में मिल सकें भर दें। शेष सूचना तब भर लें जब उस लेख को या पुस्तक को स्वयं पढ़ें।

पुस्तक सूची दाव या रंग के हों तो अच्छा है—एक सफेद दूसरा किसी भी इसके रंग का। पुस्तकों के कार्ड सफेद पर बनाए जाएँ और लेखों के जो कि पत्रिका समाचार पत्रादि में मिलते हैं रंगीन कार्डों पर।

सफेद कार्डों को (जिन में पुस्तकों का विवरण है) लेखकों के अकारादि क्रम से रखना चाहिए और रंगीन कार्डों को पत्रिकादि नामों के अकारादि क्रम से। इससे लाभ यह होगा कि एक ही पत्रिका के पढ़ने वाले सब लेख एक साथ आ जाएँगे। उन्हें वर्णानुक्रम अथवा वंशानुक्रम से सजाकर पुस्तकालय में क्रम से पढ़ डालना चाहिए। इसमें समय की बचत होगी।

पुस्तक सूची कार्डों की फाईल

कार्डों को अकारादि क्रम से एक file में लगा लेना चाहिए प्रति दिन। इस बात की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए कि पर्याप्त इकट्ठा हो लेने दो तब करेंगे। इसके लिए रिंग फाईल Ring File होना चाहिए। तागे से बंधी file में खोलकर फिर से बांधने की असुविधा होती है।

कार्डों को क्रमबद्ध रखना चाहिए। कार्ड से कुछ बड़े कार्डों पर (जो ऊपर के दोनों कार्डों से भिन्न रंग के हों) अकारादि क्रम तथा Abcde क्रम से नमूने के अनुसार काट लेना चाहिए। पत्रिकादि के कार्डों के Index cards उन के नाम के अनुसार कटने पर सुविधाजनक होते हैं (देखिए नमूने)।

नोट्स लेना

शोधकार्य के लिए नोट्स लेना एक महत्वपूर्ण अंग है। जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, शोध के विद्यार्थी को अपने विषय का आद्योपान्त अध्ययन करना होता है, उस विषय में पूर्वकृत सम्पूर्ण कार्य पढ़ लेना आवश्यक है किन्तु पढ़ी हुई वस्तु भूल न जाए इस हेतु Notes लेना अनिवार्य हो जाता है। ये नोट्स ही नींव के पत्थर हैं जिन पर शोधप्रबन्ध का महल खड़ा होना है। अतएव इस नींव को सुदृढ़ बनाना शोधविद्यार्थी का परम कर्तव्य है।

नोट्स किन पुस्तकों के बनाने हैं, किन लेखों के बनाने हैं—ये आप अपने पुस्तक सूची कार्डस् में पता लगाएंगे। पुस्तक सूची कार्डस् से बताई पुस्तक मिलने पर पुस्तक में 'क्या पढ़ें', 'क्या छोड़ें', की समस्या आती है। यह एक विकट समस्या है। एक साधारण पाठक के पास तो पर्याप्त समय होता है और वह यदि जिज्ञासु है तो पूरी पुस्तक पढ़ डालेगा किन्तु शोध के विद्यार्थी का तो समय से लड़ना है, थोड़े से समय में सब पढ़ना है। ज्ञान का कोष अनन्त है और विद्यार्थी सीमाबद्ध है अनेक बन्धनों से। फिर उसे पढ़ना भी गहराई से है। अतएव पठन-अपठन का उसे निर्णय करना पड़ता है। इस का कोई सरल मार्ग नहीं है—नीरक्षीर विवेचन विषय में नदीष्ण विद्वान ही कर सकते हैं। फिर भी निर्णय में सुविधा इस पर निर्भर है कि आप के शोधकार्य की रूपरेखा कितनी विस्तृत है, कितनी गहराई तक आप की पूर्व योजना है। यदि आपने अपने शोध के प्रत्येक अंश को पूर्णभांति योजनाबद्ध कर लिया है (जो कि बड़ा कठिन है) तो आप को सरलता होगी। आप विषय सूची या पुस्तक के अध्यायों पर एक झलक मारते ही जान जायेंगे कि कौन अंश मेरे काम का है। यहाँ तक कि समय कम होने पर पुस्तक की अनुक्रमणिका से ही पठनांश का निर्णय कर सकते हैं।

किन्तु पूर्व योजना के पक्व होने के पूर्व प्रथम कुछ मास में निर्देशक से निर्दिष्ट कुछ आधार पुस्तकों का पूर्ण अध्ययन कर लेना चाहिए और उसके ऐसे नोट्स बनाने चाहिए जो मूल नोट्स बन जाए। अन्य पुस्तकों के, बाद में, पूरे पूरे नोट्स बनाना आवश्यक नहीं है। पुस्तक के इष्ट अध्याय को पहले पूरा-पूरा पढ़ डालिये अथवा सरसरी तौर

से देख लीजिए। विहंगम दृष्टि से अध्याय का ढाँचा पूरा पूरा आखों के आगे आ जाएगा। तब अभीष्ट अंशों के नोट्स बना डालिए।

नोट्स कई भाँति के हो सकते हैं। प्रमुख ये हैं —

(i) Paraphrase Type—विषय अपने शब्दों में। बीच बीच में मूललेखक के वाक्य या वाक्यांश। में।

(ii) संक्षेप नोट्स Summary Notes—विषय के सारांश संक्षेप में।

(iii) उद्धरण नोट्स Quotation Notes—मूल लेखक के लम्बे उद्धरण। उद्धरण सही होना चाहिए, मक्षिका स्थाने मक्षिका। पृष्ठ नं नीचे अवश्य डालिए।

(iv) प्रेरक नोट्स Suggestive Notes—मूल लेखक के विचारों से आप को कुछ प्रेरणा मिली या सूझ हुई। ये नोट्स रंगीन कागज पर तुरन्त लिख डालिए। ये वास्तविक शोध में बहुत काम आते हैं।

नोट्स कार्ड्स्

शोध के विद्यार्थी को नोट्स् एक लंबी कापी में नहीं बनाने चाहिए। पूरी पुस्तक के नोट्स् एक कापी में बना लिए, दूसरी पुस्तकों के दूसरी कापी में—इस प्रकार के नोट्स को एक एक विषय लिखने के लिए फिर पूरा पूरा पढ़ना होगा। यह बहुत समय का लेगा परिश्रम भी पड़ेगा और कोई उल्लेख छूट भी जा सकता है। अतएव नोट्स खुले loose Sheets में लेने चाहिए।

ये Notes-Sheets या notes-cards कई आकार के हो सकते हैं पर दो आकार प्रमुख हैं—फुलस्केप टाईपशीट अथवा कापी Size। यदि नोट्स संक्षिप्त बनाने हैं तो छोटे परिमाण के कागज कटाइए पर पूर्वनिर्णयानुसार सब कागज एक ही परिमाण के होने चाहिए।

नोट करते समय एक कागज पर एक ही विचार की इकाई उतारनी चाहिए। विचार इकाई का परिमाण आप के ज्ञान पर निर्भर है। यहाँ दो पराकाष्ठाओं से बचना है। यदि विचार इकाई बहुत छोटी कर दी तो नोट्स कार्डों की संख्या अत्यधिक हो जाएगी तथा सम्भालने में कठिनाई होगी। यदि विचार इकाई विशाल ली तो एक ही कागज पर ऐसे दो या अनेक विचार आ जाएँगे जो आप बाद में पुनः सूक्ष्म विभाजन में पृथक पृथक करना चाहेंगे। मध्यम मार्ग आप की दूरदर्शिता पर निर्भर है। हाँ विचार इकाइयों की विशालता की अपेक्षा लघुता में अधिक सौकर्य है।

नोट्स शीट के दाहिने ओर इतना स्थान छोड दीजिए। इस के समानान्तर बाईं ओर विषय का सकेत कीजिए। फिर नोट्स लीजिए। पृष्ठ के नीचे सक्षेप में स्रोत दीजिए। स्रोत का पूर्ण विवरण होना आवश्यक नही है—केवल सक्षेप में लेखक का परनाम पुस्तक नाम व पृष्ठ। साथ में Double checkimg के लिए Bibliography Card में कुछ ऐसा code डाल दीजिए वह भी नीचे यहाँ लिख दिया जाए। पर अकेला code (चिह्न) गलती करवा सकता है।
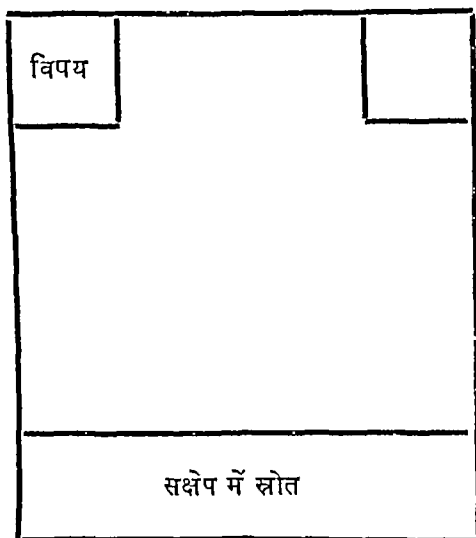
नोट्स् फाईल

मुक्त पन्ने वाली (loose leaf) प्रणाली का सबसे बडा दोष है कि अकेले अकेले कागज सरलता से खो सकते है, इधर उधर हो सकते है। अतएव नोट्स निबन्धन में असावधानी नही करनी चाहिए। पहले तो जिन loose leaves पर काम करना है वे loose न हों तो अच्छा है। आप एक punched file (देखिए नमूना) में बधे रख सकते है, नोट्स लेते गए और कापी की भाँति पलटते गए। या clipfile (देखिए नमूना) में रखकर लिखते गए और लिख लिख कर लिफाफे में डालते गए या क्लिप clip के नीचे लगाते गए। हाँ, रात्रि में दिन भर के बने नोट्स शीटो को अवश्य क्रमानुसार लगा लेना चाहिए और पक्की फाइल में यथास्थान पहुँचा देना चाहिए।

नोट्स शीट के लिए punched file cover (देखिए नमूना) ले लीजिए। कुछ रगीन मोटे कागज की क्रमसूचक कार्डस् भी कटा कर रख लेनी चाहिएँ। इस indexing के लिए—क्रमानुसार लगाने के लिए—आप को एक पूर्व योजना बनानी पडेगी।

सर्वप्रथम आप अपने विषय को ६ या ६ से कम मोटे भागो में बाँट लें। (एक भाग सामान्य (general) के लिए रख छोडा है)। प्रत्येक भाग के १० उपभाग बना लीजिए। प्रत्येक उपभाग के १० प्रभाग बना सकते है। इस प्रकार पूरा विषय १००० सूक्ष्म खण्डो में

डॉ० सत्येन्द्र

रेखांकन-चित्रण तथा रूपरेखा-विधान

इस विदग्ध गोष्ठी का महत्त्व

यह बडी प्रसन्नता की बात है कि हमने जिस सेमीनार की हिन्दी विद्यापीठ की ओर से आयोजना की है वह १८ तारीख से चलकर आज तक एक प्रकार से नियमित रूप से होती रही है, और उसमें हमने बहुत काफी कार्य सपन्न कर लिया है। कितने ही लोगो की दृष्टि में यह सेमीनार काफी सफल रही है ? इसकी वास्तविक सफलता तो आगे चलकर ही प्रतीत होगी जब कि इसका समस्त भाषण-सग्रह प्रकाशित होगा। इसमें आज तक जिन लोगो ने भाषण दिये हैं, उनके वे सब भाषण जब ग्रथ के रूप में प्रकाशित होकर आयेंगे तो मै समझता हूँ, कि वे अनुसधान की टेकनीक में शास्त्रीय दृष्टि प्रस्तुत करने की दृष्टि से हिन्दी के क्षेत्र में ही नही, वरन् मै समझता हूँ, कि सभी भारतीय भाषाओ के क्षेत्र में पहिले कदम के रूप में माने जायेंगे, और मील के पत्थर की तरह से यह सग्रह हिन्दी के क्षेत्र में काम करेगा। साथ ही हम लोग भी इस गोष्ठी में उपलब्ध स्तर से और भी आगे बढकर भविष्य की अपनी गोष्ठियो का स्तर बना सकेंगे।

आज सर्वत्र अलग-अलग स्वच्छन्द रूप से अपने-अपने मन के अनुकूल चाहे जिस प्रकार से अनुसधान-कार्य करने की प्रणाली दिखलायी पडती है, इससे एक अवाञ्छनीय अराजकता आ गयी है। हमारा यह उद्योग उसे कुछ अनुशासित कर सकेगा, ऐसी सभावना असमीचीन नही मानी जा सकती। हमारा यह प्रयोग सर्वथैव नवीन है, अभी तक इस प्रकार का प्रयोग कही भी किया ही नही गया था। केवल दिल्ली विश्वविद्यालय ने 'अनुसधान का स्वरूप' नामक पुस्तक प्रकाशित करके अनुसधित्सुओ को कुछ सामान्य सहायता का मार्ग खोला था। फिर भी हम समझते हैं कि अभी तो हम लोगो का यह आरभिक आयोजन भी काफी सीमा तक एक देन कहा जा सकेगा, और निश्चित रूप से इसके द्वारा कुछ-न-कुछ प्रगति अनुसधान के स्थिरीकरण में होगी। हस्तलिखित ग्रथो के पढने में सहायता मिल सके, इसके लिए एक अक्षरावली भी इसमें देने की चेष्टा की जायगी। कुछ ऐसे ग्रथ हैं जो ग्रथो के समय के निर्धारण में हमको सहायता पहुँचाते हैं, उन ग्रथो का भी

इसमें उल्लेख कर दिया जायगा और मोटे रूप से उन सिद्धान्तों का भी वर्णन कर दिया जायगा जिससे कि काल-निर्णय में हमको सुविधा हो सकती है। वस्तुतः यह एक बड़ी कठिन समस्या हुआ करती है। तो ऐसी और भी जो आवश्यक सामग्रियाँ होंगी जिनको कि हम समझते हैं कि परिशिष्ट की भाँति देना चाहिए वे इसमें दी जायगी। अतः मैं समझता हूँ कि यह ग्रंथ इस दृष्टि से काफी उपयोगी हो जायगा। अब यह जो हमारे यहाँ रिसर्च करनेवाले अनुसंधाता हैं—आशा तो हम यह करते थे कि जितने भी पुराने अनुसंधाता हैं उनके अनुसंधान का विवरण हमें प्राप्त हो जायगा लेकिन ऐसा नहीं हो सका है। केवल नौ अनुसंधित्सुओं ने ही अपने अनुसंधान की प्रगति के विवरण भेजे हैं। हम यह भी उनसे चाहते थे कि प्रगति के विवरण के साथ वे अपनी कठिनाइयों पर भी अपने विचार लिखकर भेजें जिससे यहाँ के विद्वानों से परामर्श करके वे कठिनाइयाँ दूर की जा सकें। अब तो निजी रूप से निर्देशक ही उन कठिनाइयों के सम्बन्ध में प्रकाश डाल सकते हैं। यों तो विश्वविद्यालय की दृष्टि से एक ऐसा व्यक्ति होना ही चाहिए जो अनुसंधान का निर्देशक कहला सके वह उसकी छोटी-मोटी बातों में सहायता देता रह सकता है, किन्तु हिन्दी इन्स्टीट्यूट में प्रवेश पानेवाला अनुसंधित्सु यहाँ के समस्त विद्वान-वर्ग का या अध्यापक वर्ग का जिज्ञासार्थी होता है। अतः यहाँ विद्यापीठ में जो विद्वान हैं उन विद्वानों के पास जो कुछ भी उनका अर्जित ज्ञान है उसको प्राप्त करने का एक प्रकार से उसका अधिकार है। इस अधिकार का उपभोग किस विधि से हो? हमारा विद्वत्मण्डल अनुसंधाता के शोध के अर्थों को देखें और वैज्ञानिक दृष्टि से और यथार्थ सारस्वत (एकाडमिक) दृष्टि से उसकी आलोचना करके बताएँ कि उस शोध-ग्रंथ में क्या सार है और क्या असार है। जब तक कि ठीक तरह से यह न बताया जायगा तब तक शोध में जो दोष दिखायी पड़ते हैं वे दूर नहीं हो सकते। शोध में सार और असार को चावल और भूसी को अलग अलग करने का प्रयास तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि इस प्रकार की विद्वत् गोष्ठियों का आयोजन नहीं किया जायगा। अपने यहाँ अभी तक यह प्रणाली नहीं थी। किन्तु अन्यत्र यह सारस्वत परंपरा है। एक घटना भी मेरे सामने आई है। मैंचेस्टर डाइम में ऐम ए डी के लिए जो रिसर्च कार्य होता है उसमें अनुसंधाता से यह अपेक्षित होता है कि किसी एक प्रामाणिक रिसर्च जर्नल में उसके एक-दो रिसर्च पेपर्स या उसके शोध प्रबंध के अंश प्रकाशित हो चुके हों। ऐसे रिसर्च जर्नलों में तत्सम्बन्धी विषय के निष्णात विद्वान लोगों का एक समूह होता है। जो रिसर्च-पेपर (शोध निबंध) उस पत्र में प्रकाशित होने जाते हैं उन्हें व विद्वान आदि से अन्त तक पूरी तरह संशोधन करके ठीक करते हैं। वे बता देते हैं कि इसमें किस किस प्रकार की कमी वैज्ञानिकता की दृष्टि से है। कहाँ क्या जोड़ना और घटाना चाहिए? वे यह भी बता देते हैं कि उस निबंध से ज्ञान-वर्द्धन में क्या योग मिल सकेगा? इस प्रकार वह विद्वन्मण्डल उस निबंध का संशोधन कर फिर उस अनुसंधाता के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेजता है। इसके बिना कोई लेख नहीं लिया जाता। वह अनुसंधाता उन संशोधनों के अनुसार उसे ठीक करके यदि पुनः भेज देता है तो वह निबंध प्रकाशित कर दिया जाता है। इस प्रणाली

से कितना लाभ होता है। अनुसधाता रिसर्च-पेपर को प्रस्तुत करने का ढग इस प्रकार साक्षात् विधि से जान जाता है। यह सभवत अमरीका की बात है। अमरीका धनाढ्य देश है। वहाँ पर ऐसे विद्वानो को ऐसे कार्य के लिए ही रखा जा सकता है। किन्तु भारतवर्ष में यह अभी सभव नही है। इसलिए ऐसी संस्थाओ के द्वारा जो विश्वविद्यालय की सस्थाएँ है, यह कार्य सम्पन्न कराया जा सकता है। तो तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का भी कार्य हम करना चाहते है। हम चाहते हैं कि आज विधिवत् हम यह कार्य कर सकें। इसके लिए हम लोगो को समय और सुविधा भी हो और जो हमारे विद्वान है उनका यहाँ महत्व समझा जाय तो ऐसा कार्य सभव हो सकता है। सैमीनार मे वह कार्य सामाधानिकाओ के द्वारा किया जा सकता है। अगली बार सैमीनार में हम समझते हैं कि इस पक्ष पर विशेष जोर दिया जायगा। अब विविध अनुसधाताओ ने अपने अनुसधान में जो प्रगति की है, यहाँ उसका सक्षेप में परिचय दिया जाता है।

शोध-विवरण

(एक) डिंगल का गद्य साहित्य—(दूसरा) रामानन्दी सम्प्रदाय। (तीसरा) नाम माला। (चौथा) ब्रज की सस्कृति और कृष्ण। (पाचवाँ) १५वी से १७वी शताब्दी के काव्य रूप। (छठवाँ) बुलदशहर का लोक-साहित्य—इन पर जो शोध कर रहे हैं उनके विवरण हमारे पास आए हैं। आरभ की दो रिपोर्टों से विदित होता है कि उन अनुसधाताओ ने क्या-क्या कार्य किया है? यह बात अवश्य विदित होती है कि ये बहुत ईमानदारी से काम कर रहे हैं, ये अनेक स्थानो पर बाहर भी भ्रमणार्थ गये हैं। जहाँ-जहाँ भी इनको सामग्री प्राप्त हो सकती है वहाँ-वहाँ से इन्होने वह सामग्री प्राप्त करने की पूरी-पूरी चेष्टा की है। जो कार्य यही विद्यापीठ में रहकर किये जा रहे हैं उन सभी में काफी प्रगति हुई प्रतीत होती है। जैसे '**नाम माला**' पर जो काम हो रहा है उसमें कुछ ही महीनो में १७४०० शब्दो के कार्ड तथा २४०६६ शब्दो के कार्ड तैयार हुए और वह अकारादि क्रम से व्यवस्थित भी कर लिये गये हैं। और वह हस्तलिखित ग्रथो के आधार पर किये गये हैं, जिन्हें पढ़ने में समय-समय पर इनको कठिनाई भी पडती रही है। इसी प्रकार से **मीरा** पर जो कार्य हो रहा है वह कार्य सामग्री-सकलन की स्थिति तक सब पूरा हो चुका है। इसमें से दो अवतरण यहाँ सुना देना चाहता हूँ। 'मीरा के समस्त पदो को केन्द्रीय भाव के अनुसार छाटकर निम्न वर्ग बनाये गये हैं। नाम, रूप, लीला, गुण, भक्ति, भजन, सत्सग, शरण, तीर्थ, वैराग्य, कथा-प्रसग, सयोग, वियोग, प्रेम, पति, भोग, साधु-सत, गिरिधर नागर आदि। इस निबन्ध मे इन वर्गों के स्रोतो की तलाश भी की गयी है, फिर अपने पद-सग्रह में उन्होने ११ स्रोतो से जितने भी मीरा के नाम से प्रचलित पद मिलते है उन सब को सम्मिलित किया है। इस पद-सग्रह के अनुसार मीरा द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द के कार्ड बनाये है, जिनकी कुल-सख्या ५६, ४३५ है। यानी ५६, ४३५ शब्द मीरा के पदो में है, उन पदो में जो अब तक मीरा के नाम से मिलते है। ये कार्ड बन जाने के उपरान्त कुल शब्दो को कोश की भाँति अकारादि क्रम से छाँटकर पृथक-पृथक कर लिया गया है। उसमें अपने सग्रह की पद-सख्या तथा अन्य सग्रहो की पृष्ठ-सख्या आदि का उल्लेख कर उनकी पृथक-पृथक कुल सख्या का भी निर्देश

कर दिया गया है इस प्रकार से इन कार्डों से छाँटकर जो कुल शब्द संख्या इन पदों में मीरा के द्वारा प्रयुक्त मिलती है वह है १४ ४२१ मीरा ने कल १४ ४२१ शब्दों का प्रयोग किया है। इनका अध्ययन चल रहा है। तो मैंने संक्षेप में आपको यह ब्यौरा देकर सूचना देने की चेष्टा की है कि जो अनुसंधान का विवरण प्राप्त हुआ है उनसे यह विदित होता है कि कार्य काफी गहराई से और पूरे परिश्रम से तथा वैज्ञानिक प्रणाली से किया जा रहा है। एक थीसिस प्रयाग यहाँ से प्रेषित की जा चुकी है। यह लिंग्युस्टिक्स संबंधी भी कैलाशचन्द्र भाटिया की की है और एक दूसरी करीब करीब तैयार है टाइप के लिए दे दी गयी है। यह भी लिंग्युस्टिक्स की है। एक है बनारसीदास जैन पर यह भी तैयार है। और दो तीन और भी करीब-करीब तैयारी पर आ गयी हैं। मैं समझता हूँ कि ये सभी इस वर्ष में तैयार होकर आ जायेंगी। अब कुछ और बातें हैं जिनके सम्बन्ध में यहाँ चर्चा करना चाहता हूँ। एक तो यह है कि सहायक पुस्तकों की सूची में संभवत कल डा हर्षे जी ने भी इसे बताया होगा कि जहाँ पुस्तक-विषयक अन्य सूचनाएँ आप लिखें वहाँ यह भी उल्लेख करें कि वह पुस्तक आपको कहाँ से प्राप्त हुई ? इस स्रोत का भी उल्लेख होना चाहिए। अगर वह आपने पुस्तकालय से लेकर पढ़ी है तो पुस्तकालय के नाम का संकेत कर के उस पुस्तकालय की उस पुस्तक की संख्या भी आप के पास रहनी चाहिए और उस सूची में उसका भी उल्लेख किया जाना चाहिये क्योंकि इससे कई लाभ हैं। एक उपयोग तो यह भी है कि जब आप को स्वयं भी उस पुस्तक को देखने की पुन आवश्यकता पड़ेगी तो आप वहाँ से उसी पुस्तक को फिर आसानी से प्राप्त करके देख सकेंगे। अत यह मेरा एक विनम्र सुझाव है। मैं समझता हूँ कि उपयोगिता की दृष्टि से यह सभी को उपयोगी सिद्ध होगा कि उस पर पुस्तकालय की संख्या का भी निर्देश रहना चाहिए और जब आप अपनी थीसिस प्रेषित करें तो उसके अन्त में जहाँ पुस्तकों की सूची देते हैं उसमें भी पुस्तकालयों की संख्या का उल्लेख कर दें। इस प्रणाली से यह भी शायद प्रमाण मिल जायगा कि इस अनुसंधाता ने वस्तुतः इस पुस्तकालय से लेकर वह पुस्तक पढ़ी होगी। लेकिन इससे भी अधिक उसका मूल्य इस बात में है कि आपकी थीसिस के पाठकों की भी परेशानी कम हो जायगी क्योंकि अनुसंधाता का कर्तव्य यह भी है कि वह आगे पढ़नेवालों का मार्ग भी सुगम करता चले। अभी तक जिस रूप में पुस्तक-सूची (Bibliography) दी जाती है उससे पुस्तक तथा लेखक प्रकाशक के नाम संस्करण आदि का पता तो चल जाता है पर बहुत सी पुस्तकें अलभ्य होती हैं। चाहे जिस पुस्तकालय में वे प्राप्त नहीं हो पातीं। अत उस पुस्तक के उस संस्करण की खोज में बेचारा अनुसंधाता लाइब्रेरियों को लिखता है, दूसरा पचासों पुस्तकालयों मे भटकता फिरता है फिर भी पुस्तक प्राप्त नहीं हो पाती। यदि आपने उसमें पुस्तकालय और उसकी पुस्तक-संख्या का उल्लेख कर दिया तो उसकी सहायता न भट से एक बार में ही उसकी सारी समस्या हल हो जायगी और समय तथा श्रम की बचत होगी। अनुसंधान में इस बचत का बहुत मूल्य है। एक अनुसंधाता को खोजने में जो समय लगा उसी को खोजने में दूसरे को भी उतना ही

समग लगे तो अनुसधान का धर्म भ्रष्ट हो जाता है। पूर्ववर्ती अनुसधाता को आगामी अनुसधाताओ के ऐसे व्यर्थ श्रम को बचाने की दृष्टि रखनी चाहिये। तो यह विधि बहुत उपयोगी होगी। मै चाहता हूँ कि हमारी इस्टीट्यूट से रिसर्च करनेवाले इतना परिश्रम अवश्य करें कि वे पुस्तकालय की पुस्तक सख्या भी दें, और उस स्रोत का भी उल्लेख कर दें कि वह पुस्तक उन्हें कहाँ से प्राप्त हुई।

रेखाकन-गणितन-चित्रण

दूसरी बात जिस पर मैं बल देना चाहता हूँ वह यह है कि थीसिस को प्रस्तुत करने में हम किसी बात को समझाने के लिए जितना भी अधिक ग्राफ (रेखाकन) और (तालिका) चार्ट का उपयोग कर सकें उतना ही अच्छा है। ग्राफ एव चार्टों का ही नही गणितीय दृष्टि का भी हमें अपने अनुसधानो में ध्यान रखना चाहिए। साहित्य के अन्दर उसकी आवश्यकता है। और मैं क्षमा चाहता हूँ कि मुझे अपनी सुविधा के लिए एक बहुत महत्वपूर्ण बात प्रस्तुत करने के लिए उदाहरणार्थ अपनी ही एक पुस्तक का उल्लेख करना पड रहा है। "मृगनयनी मे कला और कृतित्व" शीर्षक पुस्तक में केवल उसके प्रबन्ध-विधान को समझाने के लिए एक रेखन (ग्राफ) दिया गया है। किस अध्याय में क्या है? कौन है? इसी को एक ग्राफ के रूप मे प्रस्तुत करके कितने ही उपयोगी निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाते है। कौन सा पात्र किस अध्याय मे आता है फिर उसके बाद किस अध्याय मे आता है? उसके बाद किस अध्याय में आता है? उसमें जो इतना व्यवधान होता है, उसके पीछे कोई मानसिकता अवश्य होनी चाहिए। उनके बीच मे जो पात्र आते है, उनमें वे क्यो और किस रूप में आते हैं? ये सब बातें जब तक कि आप एक अध्याय-क्रम से चार्ट या ग्राफ बनाकर प्रस्तुत न करेंगे तब तक स्पष्ट नही हो सकेगी। फिर उसके आधार पर उनका रेखन (ग्राफ) भी बना सकते हैं। एक उपन्यास के सम्बन्ध में भी इस प्रकार की टेक्नीक का उपयोग किया जा सकता है, यह ग्राफिग और चार्टिग बहुत उपयोगी और बहुत लाभदायक होती है। क्यो कि उसके बहुत से तथ्य उसके द्वारा सफलता पूर्वक हमारे सामने निकल आते हैं। मृगनयनी उपन्यास के लिए यह रेखन (ग्राफ) दिया जा सकता है।

मृगनयनी उपन्यास का प्रबन्ध विधान
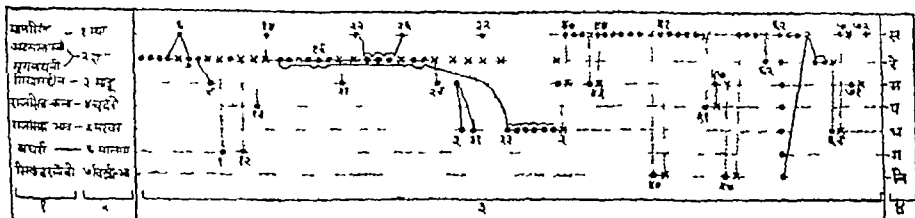
इस रेखन को प्रस्तुत करने के लिए पहले तो यह छाँट लिया गया कि समस्त कथानक किन किन स्थानों से सबंधित है। ऐसे ७ स्थान छाँटे गये हैं। इन स्थानो में कथा प्रसंग के प्रमुख पात्रों को भी छाँट लिया गया है। सात स्थानों से सबंधित कथा-प्रसंगों के पात्रों का पहले फिर स्थानों को क्रमात् लिखकर प्रत्येक के सामने एक रेखा खींच दी गयी है। इन रेखाओं पर बिन्दु जड़े गए हैं। ये बिन्दु ७१ हैं ये उपन्यासों के अध्यायों का निर्देश करते हैं। जिस स्थान की रेखा पर बिन्दु है उस बिन्दु का संख्यावाले अध्याय में उसी स्थान का कथा प्रसग उन पात्रो की प्रमुखता के साथ आया है। इस रेखन से उपन्यास का समस्त विधान स्पष्ट हो जाता है। और ध्यानपूर्वक देखने से अन्य अनेक निष्कर्ष भी स्वयमेव इस रेखन से प्रादुर्भूत हो जाते हैं। यदि यह रेखन किया तो यह भी प्रमाणित हो उठेगा कि अनुसंधाता ने उपन्यास को वैज्ञानिक विधि से देखा है। इससे प्रबंध का गौरव भी और शोभा भी बढ़ेगी। इसी प्रकार कवि के समस्त कृतित्व का भी अध्ययन के लिए रेखन का उपयोग किया जा सकता है।

ऐसे ग्राफ या रेखन को देखकर सहज भाव से कितनी बहुत सी गभीर बातें प्रस्फुटित हो उठती हैं जो सामान्यतः यों ही नहीं सूझती। इनसे मनकी भ्रान्त धारणाएँ दूर भी हो जाती हैं क्योंकि यह तो वैज्ञानिक क्रम से तथ्य को प्रस्तुत करती है। इससे उद्‌भूत निष्कर्ष अप्रमाणिक नहीं हो सके।

यह तो एक प्रकार से माथिवाय रेखन हुआ। किन्तु सामान्य रेखा-चित्रण भी उपयोगी होता है। इसका प्रधान उपयोग तो किसी सूक्ष्म कथन या तत्व की मूल कल्पना का चित्र प्रस्तुत करके समझाने के लिए होता है। फिर भी जहाँ इससे बहुत सी म समझ में आनेवाली सूक्ष्म बातें सरलता से हृदयगम हो जाती हैं, वहाँ बहुत सो अन्य बातें भी स्पष्ट हो जाती हैं तथा दो चीजों के तुलना-पूर्वक अध्ययन का तो यह अनुपम मार्ग है।

उदाहरण के लिए प्रेमचन्द की कहानियों में ढर्रे का भेद समझाने के लिए कुछ कहानियों के ढर्रों का यों विवरण दिया जाय कि—

एक ढर्रा—व्यक्ति को एक बात में आस्था है वह उसे अपनाये चला जा रहा है। एक आघात से उसका भ्रम भजन हो जाता है वह उस त्याग देता है। परिणाम-स्वरूप उसे कहीं अन्यत्र से उसका पुरस्कार मिलता है। उदाहरण-पुरस्कार, माल भक्ती और बैंक का दिवाला।

दूसरा ढर्रा—व्यक्ति सीधे-सच्चे मार्ग पर है, परिस्थितियों का पूरा दबाव पड़ता है वह अटल रहता है, अन्त में परिस्थितियों का मूल सूत्रधार उसकी ओर झुककर उसको पुरस्कृत करता है, उदाहरण नमक का दारोगा'।

तीसरा ढर्रा—कथा-सूत्र सीधे सच्चे मार्ग पर चल रहा है। एक घटना से सघर्ष उत्पन्न हो जाता है। सूत्र विभाजित होकर एक दूसरे से भिन्न दिशाओं में प्रधावित होता है। विरोध बहुत बढा कि फिर एक घटना और फिर दोनो पूर्व स्थिति को प्राप्त हो गये।

यदि इन्हें निम्नस्थ तीन रेखा-चित्रो से भी सज्जित कर दिया जाय तो तुलना का मर्म कितनी सहज प्रणाली से हृदयगम हो सकता है—
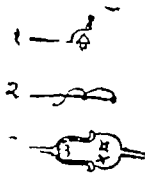
ये रेखा-चित्रण कहानियो की टेकनीक की भिन्नता को असदिग्ध रूप से स्पष्ट कर देते हैं।

ऐसे ही लोक-मानस की मस्तिष्कीय स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यह चित्र एक प्रबध में दिया गया है।

भौगोलिक बातों का स्पष्टीकरण तो बहुत ही आसानी से चित्र रेखाङ्कन से होता है। जगदेव नामक एक लोक-नायक की कथाओं के आधार पर उसकी विविध यात्राओं का भौगोलिक चित्र दे दिया जाय तो बहुत उपादेय रहता है।

तालिका सप्तम

तालिकाओं और सम्भावों का भी ऐसा ही चमत्कारक उपयोग किया जा सकता है। मान लीजिए आप आधुनिक साहित्य विषयक अनुसंधान का विवरण दे रहे हैं तो उसकी तालिका बनाकर वर्ग विषय भर सकते हैं। जैसे —

आधुनिक साहित्य पर प्राप्त उपाधियों का विषय-विभाजन।

सं १६ से

साहित्य सामान्य	कविता	काव्य	गद्य सामान्य	उपन्यास	नाटक	कहानी	निबन्ध	जीवनी	गद्य काव्य	भाषाविज्ञान	समाचार पत्र	[illegible]	कुल योग
१४	४	२२	१	१	६	२	१	१	२	५	१	१	६६
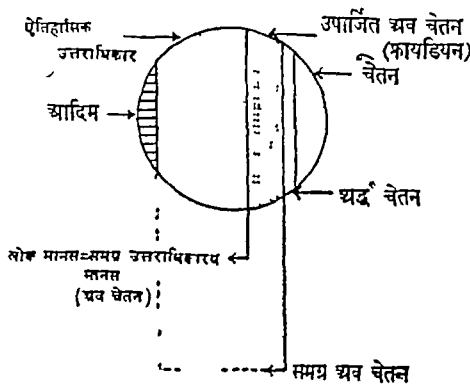
वंश वृक्षण—'वंश-वृक्षण' प्रणाली भी बहुत उपयोगी है। इसका तो सामान्यतः उपयोग भी बहुत होता रहा है।

इस प्रकार कितनी ही विधियों से गणित, रेखा, रेखा-चित्रण, तालिका वंश-वृक्षण आदि द्वारा विषय को प्रेषणीय, संक्षिप्त, प्रभावोत्पादक, प्रेरणीय, तथा सज्जा-शोभा मय बना सकते हैं। इनसे प्रबंध में प्रामाणिकता भी आती है, और वह आकर्षक भी बनता है। इन विधियों का हमें अपने प्रबंधों में अधिकाधिक उपयोग करना चाहिये।

आप लोग इस बात की चेष्टा करें कि जहाँ आप अपने अध्ययन में प्रवृत्त हों और थीसिस लिखने की चेष्टा करें, वहाँ यह देखें कि जिस भाव को भी आप चार्ट के द्वारा हृदयगम करा सकते हैं, जिसको आप रेखा-चित्रों के द्वारा हृदयगम करा सकते हैं, ग्राफ के द्वारा हृदयगम करा सकते हैं, उसके लिए इनका उपयोग करें और स्वयं अपने अध्ययन की सुविधा के लिए भी ग्राफ आदि का उपयोग करें तथा प्रामाणिक बनायें। कोई भी सचाई केवल अनुमान से नहीं कही जानी चाहिए, उसको ठीक-ठीक तरह से विश्लेषण पूर्वक जानना चाहिए। मेरा यह इस सम्बन्ध में एक निवेदन है। अब एक विषय रह गया था।

विषय निर्वाचन और रूपरेखाएँ

सौभाग्य से या दुर्भाग्य से द्विवेदी जी को (द्विवेदी जी सौभाग्य समझ सकते हैं अपनी दृष्टि से, उनको यहाँ से छोडकर ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस में चले जाना पडा, और हम लोग अपने लिए दुर्भाग्य समझते हैं कि इतने अनुभवी हमारे साथी और विद्वान्, जो हम लोगों के साथ काम कर रहे थे उनको) हमें छोड कर जाना पडा। उनका ही यह विषय था। "विषय-निर्वाचन और सिनोपसिस तैयार करना", रूप-रेखा तैयार करना। यह विषय उनकी अनुपस्थिति के कारण छुआ नहीं जा सका। यह विषय यथार्थतः तो द्विवेदी जी के द्वारा ही प्रतिपादित होना चाहिये था। किन्तु परिस्थिति वश ऐसा न हो सकने पर अब मैं उस विषय का प्रतिपादन नहीं, उस विषय पर जो मेरा अभिमत है केवल उसी को आपके सामने रख रहा हूँ। और वह यह है कि विषय का निर्वाचन वास्तव में एक कठिन समस्या है। फिर भी विषय-निर्वाचन करना ही होता है। अतः इसमें पहले तो अनुसंधाता को यह प्रयत्न करना चाहिये कि वह अपनी रुचि की तलाश करें। हमारी रुचि किधर है? लेकिन सबसे बडी कठिनाई रुचि को पहिचानने में ही तो होती है। क्योंकि जो एम० ए० करके विद्यार्थी आते हैं, वे अपनी कोई रुचि नहीं बना पाते। कुछ तो अवश्य ऐसे होते हैं जिनको लेखन का या किसी विशेष प्रकार का चाव हो जाता है। उस लेखन या व्यसन की दृष्टि से उन्हें कुछ विशेष पढना पड जाता है। लेकिन जो केवल परीक्षा की दृष्टि से पढते हैं और केवल परीक्षामात्र का ही जो पाठ्यक्रम है उसी पर निर्भर करते हैं, वे प्रायः अपनी रुचि को तलाश नहीं कर पाते। तो सबसे पहिली बात तो यही है कि हम अपनी रुचि को जानें। तब अपनी रुचि को जानकर तद्विषयक बडे से बडे क्षेत्र से विषय की कल्पना शुरू करके बडे से बडा विषय चुन लें। फिर उस पर विचार-विमर्श करते-करते उसे छोटे से छोटा करें। हम उसे जितना छोटे से छोटा कर सकें

इतना छोटे से छोटा उसे बनायें। पर यह बात हमें ध्यान में रखनी चाहिए कि वह इतना छोटा भी न हो जाय कि उस विषय पर हमें समुचित सामग्री ही न मिल सके। तो पहिले रुचि फिर उसको छोटा करके छोटे से छोटे विषय पर जिस रूप में भी अधिक से अधिक सामग्री मिल सकती है, उसको सामने रख कर तब हम अपना विषय निर्वाचित करें। विषय-निर्वाचन में निश्चित रूप से निर्देशक की सलाह बड़ा अत्यन्त आवश्यक है। क्या कि वसे तो विषय अनुसंधित्सु की दृष्टि से ही उसकी रुचि योग्यता और क्षमता को ध्यान में रख कर प्रधानतया चुना जाना चाहिए फिर भी अनुसंधित्सु बिलकुल एक प्रकार से नौसिखिया ही होता है उसका आगे की कठिनाइयों का और आगे के मार्ग का कुछ ज्ञान नहीं होता इसलिए यह आवश्यक है कि जो निर्देशक है उसका भी परामर्श उसको मिले। विषय का प्रारंभिक सुझाव प्रस्तुत हो जाने पर, यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसे अन्तिम निर्णय की कोटि में लाने से पूर्व दो काम और किये जायें। एक तो उस विषय के अब तक के अध्ययन का इतिहास प्रस्तुत किया जाय। अब तक उस विषय पर कितना और क्या अध्ययन हो चुका है यह इतिहास क्रम से प्रस्तुत किया जाय। उस पर जो ग्रंथ और निबंध या लेख लिखे गये हों उन सबकी तालिका और सार प्रस्तुत करके यह देखा जाय कि जो विषय लिया जा रहा है, उससे पूर्व के कृतियों की क्या देन रही है और यह नया विषय अपने अनुसंधान में किस देन की सम्भावना रखता है। दूसरे यह देखा जाय कि विश्वविद्यालयों में उस विषय पर कार्य तो नहीं हो चुका है। हम लोग विश्वविद्यालयों के लिए रिसर्च करते हैं और विश्वविद्यालयों में विषय निर्धारित हो जाते हैं और अनेकों विषयों पर अब तक अनुसंधान हो चुका है। अनेक पर हो रहा है। विश्वविद्यालयों के अध्यापक मान तो यह कह सकते हैं कि अब विषय रह ही नहीं गया है क्योंकि सभी विषय समाप्त हो गये हैं। लेकिन मैं इस दृष्टि से सहमत नहीं हूँ। विषय हमारो बाट जोह रहे हैं। केवल आवश्यकता इस बात की है कि हम उस पैनी दृष्टि से उस क्षेत्र को देख सकें और यह समझ सकें कि कौन सी बात है जो अभी नहीं की जा चुकी है। तो हम विषय चुनने के समय जहाँ क्षेत्र को देखें वहाँ यह भी देखें कि किस रूप का अध्ययन अनुसंधान करें। रूप के सम्बन्ध में भी अध्ययन हो सकता है। और रूप के साथ उसके किसी अंग विषय का भी हो सकता है साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से भी हो सकता है। साहित्य शास्त्र में जो भाव है उसकी दृष्टि से हो सकता है। भाव में जो कला है उसकी दृष्टि से उसका अध्ययन हो सकता है। प्रत्येक अध्ययनीय विषय के भी अंग होते हैं उन अंगों पर भी काम हो सकता है और उनका एक ऐतिहासिक अध्ययन तथा उनका विवरणात्मक और प्रवृत्ति-गत अध्ययन भी हो सकता है। इस प्रकार से इन विषयों के चुनने में हम अपनी दृष्टि और रुचि का उपयोग कर सकते हैं। एक विषय पर एक दृष्टि से काम हुआ होता हो सकता है दूसरी दृष्टि से न हुआ हो। मान लीजिए कि तुलसीदास के अलंकार पर तो काम हो चुका है पर तुलसीदास की छन्द-योजना पर तो विचार नहीं हुआ है। किस प्रकार से तुलसीदास ने कहाँ-कहाँ किस दृष्टि से उपयोग किया है यह अनुसंधान के लिए एक अछूता विषय हो सकता है। फिर तुलसीदास पर न ध्वनि की दृष्टि से न शब्द योजना या रस-योजना की दृष्टि से अध्ययन हुआ है। ऐसे अध्ययन होने चाहिए। एक

अनेको क्षेत्र हैं जिन पर कि गौर किया जाय तो अनेको विषय मिल सकते हैं। तो विषय-निर्वाचन में हताश होने की वात नही है। इन सबके होते हुए यह भी जरूरी है कि प्रत्येक अनुसधान के लिए जो कुछ फील्ड-वर्क अपेक्षित होता है, उस की भी पहिले से ही कल्पना कर ली जाय। फील्ड-वर्क के वहुत से कार्य हमारे सामने पडे हुए हैं लेकिन यहाँ पर जो विद्यार्थी आता रहा है वह कहता रहा है कि हमें ऐसा विषय दीजिये जिसमें फील्ड-वर्क न करना पडे। यह तो मैंने पहिले भी वतलाया था, यहाँ भी बतलाता हूँ कि कोई भी विषय हो उसमें फील्ड-वर्क कुछ न कुछ करना ही पड जाता है। ऐसा विषय नही मिलेगा, जिसमे किसी न किसी प्रकार का फील्ड-वर्क न करना पडे। लेकिन फील्ड-वर्क के भी इस प्रकार से प्रकार हो जाते हैं। एक तो ऐसा फील्ड-वर्क होता है कि किसी पुस्तक को देखने के लिए वाहर कही किसी पुस्तकालय में जाना पडता है। किसी विद्वान से इस सम्वन्ध में मिलना पड रहा है। लेकिन जिसे यथार्थ फील्ड-वर्क कहते हे वह यह है कि फील्ड में जो विखरा हुआ दाना पडा हुआ है उसको एक एक करके चुना जाय जैसे कि लोक-साहित्य-सम्वन्धी, और भाषा-सम्वन्धी है, वोलियो सम्वन्धी है। इस प्रकार के फील्ड-वर्क के काम के विषय के क्षेत्र भी वहुत खाली पडे हुए हैं और उन पर अभी वहुत कम काम हुआ है। अव लोग इस क्षेत्र की ओर झुके हैं। यह तो हुई विषय के निर्वाचन की वात। इस के साथ रूप-रेखा वनाने का प्रश्न हमारे सामने आता है। रूप-रेखा-निर्माण करना वहुत ही महत्वपूर्ण चीज है। और इसमें यह ध्यान रखना चाहिए कि रूप-रेखा ठीक वने। क्यो कि यदि रूप-रेखा गलत वन जाती है तो आगे चलकर वहुत परेशानी हो जाती है। एक अनुसधित्सु को केवल एक शव्द के ही कारण परेशानी हो रही है। एक शव्द था 'कृष्ण लोर'। इसका अनुवाद एक ने किया—'वार्ता' और एक ने 'आख्यान' सुझाया। एक ने कुछ और सुझाव दिया। अव वह इसी में परेशान है कि वार्ता या आख्यान या क्या? और वहुत आगे चलकर जव वहुत काम हो चुका तव यह समस्या उनके सामने आयी कि आख्यान की वात रखें कि वार्ता की वात रखें? उन्हें काफी उलझन हुई। इस उलझन में उनका काफी समय वीता। इससे स्पष्ट हुआ कि कठिनाई एक शव्द के कारण भी आगे चल कर उठ खडी होती है। कभी ऐसा होता है कि विषय की रूपरेखा वना ली गयी, वह रूप-रेखा स्वय अच्छी तरह से समझी नही, दूसरे किसी व्यक्ति से वनवायी। फलत अव यह परेशानी हुई कि उक्त रूप-रेखा में अमुक वात का क्या मतलव है। कठिनाई यही हो जाती है। यह तो अनुसधाता के अपने प्रमाद से कठिनाइयाँ हुई। पर और भी कठिनाइयाँ होती हैं। कुछ कठिनाइयाँ तो इसलिए होती हैं कि रूप-रेखा में चाहिए कुछ और दिया जा रहा है कुछ। इस प्रकार की रूपरेखाएँ वहुत वनती हैं। मान लीजिए 'भक्ति' सवधी कोई विषय लिया। अव हम लोगो के यहाँ एक प्रकार का चलन हो गया है कि प्रत्येक का अध्ययन वेदो से शुरू होना चाहिए। अव वेद भी नही, उससे आगे जाने की होड में हडप्पा-मोहनजोदडो की वात होने लगी है, निश्चय ही अपने विषय को इतनी दूर से आरम्भ करना समीचीन नही। इससे आप मुख्य अनुसधान से हटकर अप्रासगिक चर्चा और अनावश्यक अध्ययन में प्रवृत्त हो जायेंगे। तो सिनोपसिस के ठीक न वनने के कारण उसे इतना समय उस चीज में लगाना पडा

जो कि उसके कुछ मतलब की नहीं है, और वह उस पर कुछ कर भी नहीं सकता। क्यों कि वह हिन्दी का विषय लिये हुए है। वह न तो संस्कृत के पंडित हैं न वेद भाषा के पंडित हैं न शायद पाणिनी को उन्होंने समझा होगा। न महाभारत को कभी देखा होगा। इन सबके लिए वे उधार लिए हुए विचार रखेंगे। जिनमें उनका कुछ भी गौरव नहीं हो सकता। उलटे उनके लिए खतरा भी पैदा हो सकता है। वे अप्रामाणिक बातें कह सकते हैं। भ्रम को फैला सकते हैं। जब हम ऐसी थीसिसों को देखते हैं तो उनमें ऐसी खतरनाक बातें मिल ही जाती हैं क्योंकि आप स्वयं तो उस विषय के अधिकारी नहीं आपको दूसरों के मतों पर निर्भर करना पड़ेगा। उन मतों की प्रामाणिकता की परीक्षा भी आप नहीं कर सकते। मान लीजिए आप किसी पहाड़ी प्रदेश के लोक-साहित्य पर लिख रहे हैं और उसमें आप एन्थ्रोपोलोजी की बात उठाते हैं। आप एन्थ्रोपोलोजी के विद्यार्थी नहीं हिन्दी के विद्यार्थी रहे हैं। ऐन्थ्रोपोलोजी पर आपका क्या अधिकार हो सकता है। जो पुस्तकें थोड़ी बहुत आपने पढ़ी होंगी उनके आधार पर आप यह कहें कि यह जाति इस प्रकार से आई थी दूसरी इस प्रकार से आयी और उसी पर आप अपना बहुत सा काम समाप्त कर दें तो यह कितनी भारी भूल होगी। आप ऐन्थ्रोपोलोजी क्या होती है इसको ठीक ठीक जानते भी नहीं हैं जातियों का विधान किस प्रकार किया जाता है इसको भी नहीं जानते ये जातियां कहां से किस प्रकार आयीं उनका भी असली पता नहीं है तो ऐसे विषय का अपने प्रबंध में आप किस साहस से सम्मिलित करना चाहते हैं? ऐसी भूलें इसलिए हो जाती हैं कि जब रूप-रेखा बनायी गयी उस समय तो यह उत्साह था कि वह इतनी भारी भरकम बननी चाहिए कि मालूम पड़े कि बड़ी विद्वत्तापूर्ण है। अतः यदि कोई व्यक्ति ऐसे स्थलों की आलोचना करते हुए यह लिखे कि—

"When we approach the subject we find that the candidate has discussed racial contents of the population at length, there by n volving himself in disputable problems unnecessarily H should ha e been only descriptive without goi g to findout origins of the race-contents. He is not an Anthropologist nor an Ethnologist. The list of the books shows that he has not consulted authorities on Ethnology In theses of this kind the references to unacademic and popular treatises should be avoided."

The writer has gone with this theme discussing origins into langu age also. He has tried to show various influences contradicting its origin f om Shauraseni Apabhramsha. And in doing so he has made a mess of the whole affai It appears that he has no intimate knowledge of the Science and History of Language. His tatements such as follows, are unscientific.

'इस प्रकार आदिवास से संस्कृत-भाषा जो भारतीय-संस्कृति का माध्यम बनकर चली आयी थी नितांत प्राचीन होने के कारण वह संस्कृत जन साधारण के

समझने के लिये इतनी सहज नही रही । फिर शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी आदि प्राकृतो का युग भी बीत गया । जनता के लिए ये प्राकृत अर्थात पुरानी भाषाएँ अपनी साहित्यिकता के कारण कुछ कठिन भी हो गयी ।"

'क्योकि प्रत्येक साहित्यिक भाषा, लोक-भाषाओ के सम्मिश्रण से बनी हुई होती है जिसके कारण विभिन्न बोलियो की विभिन्न प्रमुख-प्रवृत्तियां विभिन्न होने पर भी मूल में एक ही रहती है ।

ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक है जिसे आर्यो ने साहित्य-प्रयोग के लिये प्रयुक्त किया और इसी को सस्कृत की सज्ञा भी दी गयी ।

हां, यहां बसे आर्यो की भाषा में तब तक परिवर्तन अवश्य हो गया होगा । अत नवागत आर्यों की बोली एव पूर्वागत-आर्यों की बोली तथा यहाँ के मूल अधिवासियो की बोली अवश्य ही एक दूसरे से प्रभावित हुई होगी और इन सब के सम्मिश्रण से एक विस्तृत-भूभाग के जन-साधारण की बोली का जन्म हुआ होगा, उसी को भाषा-वेत्ताओ ने शौरसेनी-अपभ्रश की सज्ञा दी ।

As if the process of amalgamation of two groups of Aryan incomers, and aborigines of India happened so late as Apabhramsha age which according to him is between 8th-9th century and thirteenth-fourteenth century A D

"इससे यह भी सभव है कि भारत में आने वाली प्रथम खस जाति समूह आर्य (वैदिक) भाषा का प्रयोग करते थे । हो सकता है कि वे (वैदिक) आर्य-भाषा के साथ-साथ यहाँ के अधिवासियो की भाषा से मिली-जुली भारतीय-असस्कृत-आर्य-भाषा का प्रयोग भी करते रहे हो । परन्तु यह आवश्यक भी नही है । लेकिन इतना तो स्पष्ट ही है कि इन लोगो की भाषा पर सस्कृत का प्रभाव पडना स्वाभाविक ही है । क्योकि 'सस्कृत' का विशेष रूप भारत में काफी बाद में निर्मित हुआ ।"

So many things, have been said here rather axiomatically, without giving Pramana or proof and evident contradiction here in contained is quite overlooked,

इसके साथ ही गढ़वाली भाषा के आर्य-भाषा से निकट सबध के विषय में यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि प्रागैतिहासिक काल में कुछ आर्य राजपूताना से, (मैदानी-भाग से) माध्यमिक-पहाडी क्षेत्रो में आकर बसे । ये भोटियो (भोट उत्तरी हिमालय) लोगो के अधिवास से निचली घाटी में बसे । जिन्हें कि भोटिया लोगो ने 'खसिया' कहकर सूचित किया ।

Telling us about Pre-historic age, we do not know on what authorities and on what premises

The portion of historical philological discussion is full of such unwarranted statements

To my mind the writer ought to have confined himself to the descriptive linguistics of his field only and given us partly the description of language or languages of the area as they are found today Hence the portion of historical discussion could be expunged and if however it is included, it should thoroughly be examined by some eminent philologist

तो इस संकेत से यह प्रकट हुआ कि यदि रूप-रेखा में अनावश्यक बातों का पहले ही निकाल दिया गया होता तो एक अनाप तत्त्व समाविष्ट न हो पाते।

अतः रूप रेखा के निर्माण में यह अत्यन्त आवश्यक है कि यथा-संभव अनावश्यक बातों का समावेश न हो पाये।

दूसरी बात यह है कि रूप रेखा में प्रबंध के तीनों भागों का यथोचित ध्यान रखने की आवश्यकता है। ये तीन भाग ये होते हैं—

१ भूमिका
२ मुख्य विषय
३ परिशिष्ट

इस बात की सावधानी रखने की आवश्यकता है कि 'भूमिका' भाग इतना भारी न हो जाय कि मुख्य विषय को बौना कर दे। जहाँ वे विषय जो 'परिशिष्ट' में अधिक ठीक रह सकते हैं, उनका समावेश भूमिका या मुख्य विषयवाले अंश में न रख दिया जाय।

मान लीजिये आपने विषय चुना—

पद्मावत का शास्त्रीय व साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन''

अब इस पर मैं आपके समक्ष तीन रूप-रेखाएँ रखता हूँ जिससे आप तुलना-पूर्वक यह देख सकें कि किस में क्या दोष है रूप रेखा नं १ स्वतंत्र रूप-रेखा है। रूप रेखा नं २ में ही तीसरी रूप-रेखा संशोधन के रूप में प्रस्तुत कर दी गयी है। यह तीसरी रूप रेखा पुष्पांकित (*) पदों में दी गयी है, अतः आसानी से समझी जा सकती है। दूसरी रूप रेखा में किये गये संशोधनों से आप यह भी समझ सकते हैं कि पहली रूप-रेखा का पूर्णतः परित्याग कर दिया गया है। क्योंकि प्रथम अध्याय अथवा पूर्व पीठिका अनावश्यक है। दूसरे अध्याय में पुराकालीन प्रवृत्तियों को अनावश्यक रूप से सम्मिलित किया गया है जिससे मूल विषय बौना हो ही जायगा तीसरे अध्याय में पुनः अनावश्यक तत्त्वों को प्रधानता दी गयी है। इस प्रकार ६ अध्यायों में से तीन में अनावश्यक विषयों को गौरव मिला है। शेषों में भी विषय के अनुरूप 'शास्त्रीयता' पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। उसे बहुत सामान्य रूप में प्रस्तुत किया गया है।—इस दृष्टि से अब इन रूप-रेखाओं को देखें—

रूप रेखा न० १

पद्मावत का शास्त्रीय व साहित्यिक दृष्टि से मूल्याकन

I पूर्व पीठिका—

(a) सूफी मत का आदि स्रोत ।

(b) भारत में सूफी धारा का प्रवाह ।

(c) आदि काल से जायसी के समय तक सूफी मत का विकास व विकृति ।

(d) उक्त पृष्ठभूमि में जायसी का उदय ।

(e) जायसी का युग ।

II जायसी को प्राप्त पुराकालीन प्रवृत्तियाँ तथा पद्मावत में उनका उपयोग—

१ —

(a) वैचारिक धरोहर—(1) सूफी विचारधारा (11) हठयोग सम्बन्धी विचारधारा

(b) इस्लामी विचारधारा ।

(c) काव्य सम्बन्धी प्राप्त धरोहर ।

(1) प्रबन्ध प्रवाह—सस्कृत प्रबन्ध, प्राकृत प्रबध, अपभ्रश प्रबध, हिन्दी प्रबन्ध, सूफी कवियो की पद्धति फारसी मसनवी शैली

(11) कविता के अग—जायसी के समय तक प्रचलित मान्यताएँ—शब्दार्थ, अलकार, रीतिशैली, गुण, ध्वनि ।

(111) छन्द सम्बन्धी मान्यताएँ—

चौपाई, चौपई, दोहा, तीनो का जायसी द्वारा प्रयोग ।

२—तत्कालीन प्रचलित सामाजिक मान्यताएँ ।

III पद्मावत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और कथावस्तु ।

भिन्न-भिन्न कथानको का जायसी द्वारा मिश्रण ।

IV पद्मावत में अलौकिक तत्त्व—

V जायसी का प्रबन्ध-कौशल—

पद्मावत में प्रबन्ध निर्वाह व मुक्तकत्व ।

" " सवाद व नाटकीयता ।

पद्मावत एक अन्योक्ति है । पद्मावत एक प्रतीक है । पद्मावत एक समासोक्ति है अथवा रूपक है ।

VI पद्मावत में रस-निष्पत्ति—

भाव-विचार

विभाव-विचार—१. आलम्बन एव आश्रय (चरित्रचित्रण)

२ उद्दीपन अथवा प्रकृति चित्रण,

अनुभाव

सचारी भाव

VII परिशिष्ट—

१ जायसी का जीवन वृत्त ।

२ पद्मावत के कुछ विशिष्ट शब्द—

(a) सूफीमत के पारिभाषिक शब्द ।

(b) प्रादेशिक शब्द ।

(c) अपभ्रंश के शब्द ।

रूपरेखा नं० २ तथा ३

पद्मावत का शास्त्रीय व साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन

I

परिशिष्ट में जायसी
- जायसी का युग—
- राजनैतिक परिस्थितियाँ* और उनका इतिहास
- सामाजिक परिस्थितियाँ*
- धार्मिक व दार्शनिक विचार धाराएं ।

* I भूमिका
* १ पद्मावत का महत्त्व [इतिहासों आदि से]
* २ पद्मावत के अध्ययन की परंपरा—प्रत्येक अध्ययन की विशेषता
* ३ पद्मावत के नये अध्ययन की आवश्यकता और इस अध्ययन का महत्त्व

II (अ) पद्मावत की कथावस्तु—

(a) मुख्य कथा

(b) अवान्तर कथाएँ

(c) कथा का स्रोत—

(i) ऐतिहासिक

* (ii) लोक-वार्ता विषयक तथा
* (iii) कल्पना प्रसूत

(d) कथाओं में परस्पर सम्बन्ध निर्वाह

लौकिक पक्ष व अलौकिक पक्ष एवं इन दोनों का निर्वाह ।

* (e) पद्मावत की कथानक रूढ़ियाँ और उनका परंपरा तथा जायसी में उनके उपयोग की सार्थकता ।

(f) शैली—मसनवी अथवा भारतीय

* (आ) कथा तथा पात्र—
* (a) मुख्य कथा के पात्र—चित्रण—उनका नायक-नायिका भेद के लक्षणों के अनुसार तथा स्वतंत्र निरूपण-तरर और उनका मनोविज्ञान
* (b) अवान्तर कथाओं के पात्र उनका चित्रण उनका मनोविज्ञान
* (c) पात्रों का वर्गीकरण उनका शास्त्रीय आधार और क्रम

III पद्मावत में रस निरूपण—

* (a) पद्मावत का प्रधान रस

* (b) अन्य रस और उनका प्रधान रस से सबंध
* (c) पद्मावत में शृगार रस
 (i) सयोग वर्णन
 (ii) वियोग वर्णन—(1) वियोग के रूप, पूर्वानुराग आदि।
 (2) कामदशाओं का चित्रण
 (iii) वियोग में भारतीयता एव विदेशीपन
 *(iv) पद्मावत में स्थायी भावों की स्थिति कहा कहा और कैसे
 *(v) पद्मावत में विभावों के स्थल और उनका स्वरूप
 *(vi) पद्मावत में सचारियों के स्थान, नाम तथा प्रयोग
 *(vii) पद्मावत के अनुभावों की सूची, उनके स्थल और उपयोग
 *(viii) पद्मावत में सात्विक भाव
 *(ix) पद्मावत में हाव-भाव
 *(x) पद्मावत और कामशास्त्र

IV पद्मावत में अलकार योजना—
 (a) पद्मावत के उपमान।
 (b) जायसी की अलकार सम्बन्धी मौलिकता।

V पद्मावत में छद-योजना—
 चौपाई-दोहे की परिपाटी एव उसकी गीतात्मकता,

*VI पद्मावत में गुण-दोष

*VII पद्मावत में औचित्य विचार

VIII पद्मावत में *सस्कृति का स्वरूप

IX पद्मावत में प्रकृति-निरूपण,

X पद्मावत में दर्शन-तत्व—
 सूफीमत, रहस्यवाद, इस्लामी विचारधारा आदि,

XI पद्मावत में लोक-जीवन—
 लोक कथाएँ
 लोक गीत
 तत्कालीन समाज का चित्रण
 जन-प्रचलित मान्यताओं व धारणाओं का समावेश।

XII पद्मावत की भाषा—
 (a) लोकोक्ति व मुहाविरे
 (b) व्यजनाशक्ति
 (c) व्याकरण

*XIII पद्मावत का काव्यत्व प्रबधत्व, महाकाव्यत्व, शैली, अन्योक्ति, प्रतीक, आदि

*XIV पद्मावत का ज्ञानकोष और उसके शास्त्रीय स्रोत

XV उपसहार—मूल्याकन—

परिशिष्ट

(a) जायसी का जीवन-वृत्त
*(b) जायसी का युग (देखिये ऊपर प्रथम अध्याय)
(c) पद्मावत के विशिष्ट शब्द
(d) सूफीमत के पारिभाषिक शब्द । अपभ्रंश के तथा प्रादेशिक शब्द ।
*(e) दृष्टांत तथा सदर्भित कथाओं की सूची और परिचय ।

इसी प्रकार खुम्माण रास विषयक नीचे दी गयी रूपरेखा तथा इसके संशोधनों को देखिये—

खुम्माण रास और उसका अध्ययन

अर्थात् खुम्माण रास का आलोचनात्मक सम्पादन भाषा वैज्ञानिक टिप्पणियों सहित कठिन शब्दार्थ एवं ऐतिहासिक साहित्यिक तथा भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन युक्त प्रस्तावना ।

खंड १

खुम्माण रास का अध्ययन

* १ रासो साहित्य क रास और रासो काव्य
ख हिन्दी रासो साहित्य
ग राजस्थानी रासो साहित्य
* २ रासो साहित्य की विशेषताएँ ।
३ खुम्माण रास एवं तत्संबंधित भ्रांतियाँ

* यह शीर्षक इस अध्ययन के अंत में जाना चाहिये क्योंकि अध्ययन का तत्व प्रमुख है तत्संबंधी भ्रांतियों का निराकरण प्रधान तत्व नहीं। इसकी भाषा भी ठीक की जानी चाहिये 'एवम् तत्' से दो शब्द भ्रामक तथा अनावश्यक शब्द हैं ।

* १ खुम्माण रास के सम्पादन तथा अध्ययन की आवश्यकता भूमिका ।
२ (अ) खुम्माण रास का ग्रन्थ-कर्ता उसका जीवन परिचय कृतियाँ एवं कवित्व ।
*(इसके संबंध में अन्तर तथा बाह्य साक्ष्यों की परीक्षा तथा निष्कर्ष)
(आ) खुम्माण रास का रचनाकाल ।
३ खुम्माण रास का विषय ।
* ४ खुम्माण रास की वस्तु में ऐतिहासिक तत्व और उसकी प्रामाणिकता । तत्कालीन
* ५ खुम्माण रास में कवि कल्पना का योग प्रकृति का रूप और उसकी उपयुक्तता ।
६ खुम्माण रासो की नवरस रचना एवं रुढ़ियों का योग और अनुभूति ।
७ खुम्माण रासो में नायक निम्न दृष्टियों से—
अ —कथा भाग में ।

*आ—लोकोक्तियो तथा प्रवादो और दृष्टान्तो में।

*इ—विविध लोक विश्वास

८ खुम्माण रास में साहित्यिक सौष्ठव।

क प्रवन्ध-कल्पना एव वस्तु-योजना में।

ख वस्तु वर्णन में।

ग भाव-व्यजना-एव रसात्मकता में।

घ अलकार-योजना में।

ङ छद-योजना में, खुम्माण रास में प्रयुक्त छद (१) सस्कृत छद, (२) प्राकृत छद (३) पिंगल छद (४) डिंगल छद, (५) लोक-क्षेत्र से गीत, निशानी आदि।

च चरित्र-चित्रण।

*९ खुम्माण रासो में (अ) भाव-सपत्ति तथा (आ) ज्ञान-सपत्ति

१० खुम्माण रास की भाषा।

१ भाषा-जाति—राजस्थानी, यत्र तत्र पिंगल, व्रज भाषा तथा गुजराती-प्रयोग, प्राकृत और सस्कृत।

२ रास की भाषा का विवेचन—शब्द-समूह, विदेशी शब्द, ध्वनि-विकास शब्द-निर्माण। (उपसर्ग और प्रत्यय) व्याकरण, सज्ञा, वचन, जाति लिंगकारक, विभक्ति, विशेषण, सर्वनाम, क्रिया, क्रिया-रूप, अव्यय।

*३ रास की भाषा का अर्थ-तत्व की दृष्टि से विवेचन।

४ खुम्माणरास सम्बन्धित भ्रान्तियाँ।

१ रासो काव्यो में खुम्माण रास का स्थान।

परिशिष्ट

१ सबसे आरभ के पुष्पाकित (×) अश यहाँ परिशिष्ट में आने चाहिये। क्योंकि हम 'ग्रथ' का अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं। रासो विषयक परिभाषा तथा परिचय सामान्य सामग्री है। अत यह आरभ में अनिवार्य नहीं।

२ सहायक ग्रथ।

खण्ड २

मूल ग्रथ

१. उपेद्घात

क मूल प्रति का परिचय, पत्राकार, पत्र-सख्या आदि।

ख प्रति का लिपिकार, लिपिकाल, लिपि

ग चित्र एव भावानुकूलता

*२ सपादन के सिद्धान्त

३ मूल ग्रंथ—पाठालोचनात्मक सम्पादन
४ पाद-टिप्पणियाँ—कठिन शब्दों की व्युत्पत्ति एवं भाषा वैज्ञानिक टिप्पणियों सहित शब्दार्थ।

*परिशिष्ट

*१ शब्दानुक्रमणिका
२ सूचनिका।

भूमिका मुख्य विषय और परिशिष्ट में एक अपेक्षित संतुलन होना बहुत आवश्यक है, यह बात यहाँ तक स्पष्ट हो चुकी होगी। पर रूपरेखा इतनी उथली या एकांगी भी नहीं होनी चाहिये कि उसे रूपरेखा का नाम ही न दिया जा सके। ऐसी रूपरेखाओं से मार्ग दर्शन क्या हो सकेगा। उदाहरणार्थ यह रूपरेखा सी जा सकती है।

विषय हिन्दी के आधुनिक नाटक-साहित्य में परम्परा और प्रयोग

प्रथम अध्याय—परम्परा और प्रयोग की परिभाषा तथा परिपाटी—

द्वितीय अध्याय—प्रस्तुत काल से पूर्व के नाटक-साहित्य में परम्परा एवं प्रयोग सम्बन्धी पृष्ठभूमि।

तृतीय अध्याय—भारतेन्दु युग—कथावस्तु सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग चरित्र चरित्र सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग कथोपकथन सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग देशकाल सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग भाषा एवं शैली सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग उद्देश्य सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग रस सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग अभिनय सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग।

चतुर्थ अध्याय—प्रसाद युग—कथावस्तु सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग चरित्र-चित्रण सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग कथोपकथन सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग देशकाल सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग भाषा एवं शैली सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग उद्देश्य सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग रस सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग अभिनय सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग।

पञ्चम अध्याय—प्रसादोत्तर युग—कथावस्तु सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग चरित्र चित्रण सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग कथोपकथन सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग देशकाल सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग भाषा एवं शैली सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग उद्देश्य सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग रस सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग अभिनय सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग।

षष्ठ अध्याय—समाहार।

यह अत्यन्त उथली रूपरेखा है। इसे यदि निम्नलिखित रूप दिया जाय तो कुछ पूर्ति हो सकती है।

हिन्दी के आधुनिक नाटक-साहित्य में परम्परा और प्रयोग

१ आधुनिक युगपूर्व भारतीय नाटक-साहित्य में परपरा और प्रयोग का सहावलोकन—परम्परा का स्वरूप तथा प्रयोगो की स्थिति। विविध प्रयोगो का इतिहास तथा विविध शास्त्रीय परम्पराएँ और रूढ नाटकीय परिपाटियाँ। परम्परा और प्रयोग की पृष्ठभूमि में साहित्य की मेधा का स्वरूप।

२ आधुनिक हिन्दी नाटक-साहित्य का सर्वेक्षण—विविध भारतीय नाटक परम्पराओ की दृष्टि से आधुनिक नाटक साहित्य का वर्गीकरण—हिन्दी नाटक के साहित्य में मिलनेवाले परम्परा के समग्र तत्वो का कोश—प्रत्येक तत्व की हिन्दी के आधुनिक नाटको मे स्थिति—उसका विकास या ह्रास-उस विकास या ह्रास के स्वरूप तथा कारणो का अनुसधान—

३ विविध अभारतीय नाटक परपराओ की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-नाटक-साहित्य का वर्गीकरण—हिन्दी नाटक-साहित्य में मिलने वाले समग्र अभारतीय नाटक परपरा के तत्वो का कोश—इन तत्वो की आधुनिक हिन्दी नाटको में प्रयोग की स्थिति का सक्षिप्त इतिहास।

४ (अ) उन परपराओ का उद्घाटन जो मूलत हिन्दी नाटको की अपनी परपराएँ है।

(आ) आधुनिक हिन्दी नाटको में इन तीना परम्पराओ की तुलनात्मक स्थिति।

५ आधुनिक हिन्दी नाटको में होनेवाले प्रयोगो का सर्वेक्षण—समस्त प्रयोगों का प्रकारो और युगो में वर्गीकरण - प्रकार शिल्प-विधान सबधी, आरभ-अंत सवन्धी, दृष्य-विधान सबधी, सामग्री-चयन सबधी, सवाद-सबोधन सबधी, सगीत-नृत्य सबधी, पात्र-वेश, प्रयोग-प्रस्थान सवन्धी, रग-सम्बन्धी आदि।

६ (अ) प्रत्येक प्रयोग की पृथक-पृथक प्रयोग कालोन स्थिति और आयु। इन प्रयोगो का मूलस्रोत १—भारतीय परपरा से उद्भूत २—अभारतीय परपराओ से उद्भूत ३—व्यक्तिगत साहित्यकार की मेधा की उद्भूति ४—लोक-क्षेत्र से ग्रहीत। (आ) १—वे प्रयोग जो अत्यन्त अस्थायी रहे २—वे प्रयोग जो कुछ काल तक चल ३—वे प्रयोग जो अपनी परपरा खडी कर सके। प्रत्येक की पृष्ठभूमि का सर्वेक्षण तथा विश्लेषण।

७ इन प्रयोगो और परपराओ का पारस्परिक सबन्ध।

८ निष्कर्ष।

जहाँ यह आवश्यक है कि 'रूपरेखा' यथासभव पूर्ण हो वहाँ यह भी आवश्यक है कि उसका क्रम लाजिकल, वैज्ञानिक पूर्वापर प्रक्रिया से युक्त हो।

इन वातो की ओर सकेत करने के लिए यहाँ दो रूपरेखाओ पर दो विमर्श दिये जा रहे हैं —

(१)

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास

"हिन्दी के ऐतिहाहिक उपन्यास (१) विपय पर दी गई रूपरेखा सतोपजनक नही है। इसमें चार अध्यायो में समूचे विपय को विभाजित करके लिखने का सकल्प

प्रकट किया है। तीसरे अध्याय (ख खण्ड) (अनूदित उपन्यास) अनावश्यक है। जिन उपन्यासों और उनके अनुवादों ने हिन्दी उपन्यासों को प्रेरणा दी है उनकी चर्चा यथा प्रसंग होना ही उचित है। उनकी अलग से चर्चा करने के लिए एक अलग अध्याय की योजना मुझे अनावश्यक जान पड़ती है। वस्तुतः अनुवाद हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कहे जा सकते। वे अपनी-अपनी मूल भाषाओं के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। उनकी चर्चा प्रसंगागत विषय के रूप में ही हो सकती है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की एम ए कक्षा के थीसिस के रूप में एक विद्यार्थी ने इस विषय पर कार्य किया है। वह थीसिस अब पुस्तक रूप में प्रकाशित हो रही है। प्रस्तुत रूपरेखा में उससे आगे बढ़ने का कोई प्रयास नहीं दिखायी देता।

प्रस्तुत रूपरेखा से यह भी पता नहीं चलता कि प्रार्थी कौन सा नया शोध (Discovery of New facts) या पुरानी बातों की कौनसी नयी व्याख्या प्रस्तुत करने जा रहा है।"

(२)

दोहा छन्द का उदय और विकास

As regards synopsis it has got many shortcomings

(i) The chapters are not Logically arranged e. g history of Doha in Hindi Literature should be put after the 1st chapter and not at the 10th place. So also chapter 5 दोहे की छन्द परम्परा either should be included in the chapter I छिन्न स्रोत or may be given III place in the order of this chapter

(ii) Some important things are either left-out or given a very unimportant thought (a) no mention is made of Ganas in Rachnatatwa, nor there is a mention of Ras anywhere in the synopsis While discussing लक्षण I think, the suitability of Doha for some Rasas had to be discussed. (b) numerous varieties of Dohas mentioned in Chhand Shastras and liberty of Hindi writers in using them attracts one's attention. This factor should have been assigned a separate chapter entitling दोहों के विविध भेद उप प्रकार विवेचन and there in various causes leading to this plurality of varieties should have been discussed (c) Doha has been a living Chhand in Hindi, hence it was essential to show what flaws or beauties have propped up in its usages by various poets It would also be very useful in investigation to show if there are some poets who have constructed some new variety of Dohas

( ) Some topics are ambiguous दोहे के रचना-तत्वों की तुलनात्मक परीक्षा, व दोहे का क्रमिक विकास

(v) Some topics are unnecessary such as. जैन-हिन्दी भाषाओं में दोहों की परम्परा if the candidate likes he may give some information in the form of an Appendix.

(v) The details of topics too are at places ambiguous or far-fetched, or irrelevant or unnecessary

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि रूप-रेखा के संबंध में सब से अधिक ध्यान देने योग्य बातें ये हैं —

१ भूमिका-भाग में मुख्य-विषय से घनिष्ठ रूपेण संबंधित प्रारंभ में ज्ञातव्य बातें ही आनी चाहिये। भूमिका छोटी से छोटी होनी चाहिये।

२. प्रधानता मुख्य-विषय को मिलनी चाहिये।

३ जिन बातों का विशेष उल्लेख किन्हीं कारणों से अपेक्षित हो, और वे बातें न तो भूमिका में स्थान पा सकें न मुख्य भाग में, तो ऐसी बातों का उल्लेख परिशिष्टों में किया जा सकता है।

४ रूप-रेखा में बातों को पूर्वापर क्रम (लाजिकल आर्डर) में रखा जाना चाहिये।

५ अनावश्यक बातें बिल्कुल भी सम्मिलित नहीं की जानी चाहिये।

६. रूप-रेखा निर्धारित विषय की सीमा से बाहर नहीं जानी चाहिये।

७ रूप-रेखा से यह स्पष्ट विदित हो सकना चाहिये कि इसमें नये अनुसंधान के लिए बहुत अवकाश है। वह एक सामान्य लोक-रुचि के लिए प्रस्तुत होने वाले ग्रंथ की विषय-सूची के रूप में नहीं होनी चाहिये।

८ रूपरेखा के साथ पुस्तक-सूची (Bibliography) भी दी जानी चाहिये।

किन्तु, इतने विवेचन से यह बात भी प्रतिभासित होती है कि "रूपरेखा" ठीक-ठीक तब तक तैयार नहीं की जा सकती, जब तक कि अनुसंधाता अपने विषय और तत्संबंधी प्राय समस्त सामग्री से पूरी तरह परिचित नहीं हो जाता। दूसरे शब्दों में उसे अपने अनुसंधान की प्रारंभिक अवस्था संपन्न कर लेने के बाद ही रूपरेखा प्रस्तुत करनी चाहिये। किन्तु विश्वविद्यालयों में रूपरेखा आरंभ में ही माँगी जाती है। इस प्रणाली से परिणाम यह होता है कि अनुसंधाता दूसरों से रूप-रेखा प्रस्तुत कराता है। और रूपरेखा बनाने वाले का दास हो जाता है, क्योंकि पद-पद पर उसे रूपरेखा को समझने के लिए उसके पास दौड़ना पड़ता है। रिसर्च यदि अनुसंधान है तो उसका स्वरूप तो अनुसंधान करते-करते ही स्पष्ट होगा। आरंभ में ही उसे कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस दृष्टि से समीचीन यह प्रतीत होता है कि "विश्वविद्यालय" केवल विषय' को ही स्वीकार करें। विषय के साथ यह उल्लेख मात्र रहे कि अनुसंधाता उस विषय के अनुसंधान को क्यों महत्त्वपूर्ण मानता है, और क्यों उसमें प्रवृत्त होना चाहता है। यदि इतने से ही संतोष नहीं हो तो, विषय के साथ अनुसंधान की योजना (Scheme) ही माँगी जानी चाहिये।

अनुसंधान योजना—

अनुसंधान की योजना में केवल उन मार्गों (Steps) का ही उल्लेख होना चाहिये जिनके द्वारा अनुसंधान किया जायगा। उदाहरणार्थ "खुमाणरासो का अनुसंधान"।

प्रकट किया है। तीसरे अध्याय (ख खण्ड) (अनूदित उपन्यास) अनावश्यक है। जिन उपन्यासों और उनके अनुवादों ने हिन्दी उपन्यासों को प्रेरणा दी है उनकी चर्चा यथा प्रसंग होना ही उचित है। उनकी अलग से चर्चा करने के लिए एक अलग अध्याय की योजना मुझे अनावश्यक जान पड़ती है। वस्तुतः अनुवाद 'हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास' नहीं कहे जा सकते। वे अपनी-अपनी मूल भाषाओं के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। उनकी चर्चा प्रसंगागत विषय के रूप में ही हो सकती है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की एम ए कक्षा के थीसिस के रूप में एक विद्यार्थी ने इस विषय पर कार्य किया है। वह थीसिस अब पुस्तक रूप में प्रकाशित हो रही है। प्रस्तुत रूपरेखा में उससे आगे बढ़ने का कोई प्रयास नहीं दिखायी देता।

प्रस्तुत रूपरेखा से यह भी पता नहीं चलता कि प्रार्थी कौन सा नया शोध (Discovery of New facts) या पुरानी बातों की कौनसी नयी व्याख्या प्रस्तुत करने जा रहा है।"

(२)

दोहा छन्द का उदय और विकास

As regards synopsis it has got many shortcomings

(i) The chapters are not Logically arranged e. g history of Doha in Hindi Literature should be put after the 1st chapter and not at the 10th place. So also chapter 5 दोहे की छन्द रचना either should be included in the chapter I विषय प्रवेश or may be given III place in the order of this chapter

( ) Some important things are either left-out or given a very unimportant thought (a) no mention is made of Ganas in Rachnatatwa, nor there is a mention of Ras anywhere in the synopsis. While discussing रसभाव, I think, th suitability of Doha for som Rasas had to be discussed. (b) numerous varieties of Dohas mentioned in Chhand Shastras and liberty of Hindi writers in using them attracts one's attention This factor should have been assigned a separate chapter entitling दोहों के विविध भेद तथा उनका इतिहास nd there in various causes leading to this plurality of varieties should have been discussed. (c) Doha has been a living Chhand in Hin li hence t was essential to show what flaws or beauties ha e propped up in ts usages by various poets. It would also be very useful investigation to show if there are som poets who have constructed some new variety of Dohas

(iii) Some topics are ambiguous दोहे के रचना-तत्वों की तुलनात्मक परीक्षा या दोहे का प्रयोग विकास

(iv) Some topics ar unnecessary such as गैर-हिन्दी भाषाओं में दोहों की परम्परा if the candidate likes he may give some information in the form of an Appendix.

(v) The details of topics too are at places ambiguous or far-fetched, or irrelevant or unnecessary

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि रूप-रेखा के सबध में सब से अधिक ध्यान देने योग्य बातें ये है —

१ भूमिका-भाग में मुख्य-विषय से घनिष्ठ रूपेण सबधित प्रारभ में ज्ञातव्य बातें ही आनी चाहिये। भूमिका छोटी से छोटी होनी चाहिये।

२ प्रधानता मुख्य-विषय को मिलनी चाहिये।

३ जिन बातो का विशेष उल्लेख किन्ही कारणो से अपेक्षित हो, और वे बातें न तो भूमिका मे स्थान पा सकें न मुख्य भाग में, तो ऐसी बातो का उल्लेख परिशिष्टो में किया जा सकता है।

४ रूप-रेखा में बातो को पूर्वापर क्रम (लाजिकल आर्डर) में रखा जाना चाहिये।

५ अनावश्यक बातें बिलकुल भी सम्मिलित नही की जानी चाहिये।

६ रूप-रेखा निर्धारित विषय की सीमा से बाहर नही जानी चाहिये।

७ रूप-रेखा से यह स्पष्ट विदित हो सकना चाहिये कि इसमें नये अनुसधान के लिए बहुत अवकाश है। वह एक सामान्य लोक-रुचि के लिए प्रस्तुत होने वाले ग्रथ की विषय-सूची के रूप में नही होनी चाहिये।

८ रूपरेखा के साथ पुस्तक-सूची (Bibliography) भी दी जानी चाहिये।

किन्तु, इतने विवेचन से यह बात भी प्रतिभासित होती है कि "रूपरेखा" ठीक-ठीक तब तक तैयार नही की जा सकती, जब तक कि अनुसधाता अपने विषय और तत्सबधी प्राय समस्त सामग्री से पूरी तरह परिचित नही हो जाता। दूसरे शब्दो में उसे अपने अनुसधान की आरभिक अवस्था सपन्न कर लेने के बाद ही रूपरेखा प्रस्तुत करनी चाहिये। किन्तु विश्वविद्यालयो में रूपरेखा आरभ में ही मांगी जाती है। इस प्रणाली से परिणाम यह होता है कि अनुसधाता दूसरो से रूप-रेखा प्रस्तुत कराता है। और रूपरेखा बनाने वाले का दास हो जाता है, क्योंकि पद-पद पर उसे रूपरेखा को समझने के लिए उसके पास दौडना पडता है। रिसर्च यदि अनुसधान है तो उसका स्वरूप तो अनुसधान करते-करते ही स्पष्ट होगा। आरभ में ही उसे कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस दृष्टि से समीचीन यह प्रतीत होता है कि "विश्वविद्यालय" केवल विषय' को ही स्वीकार करें। विषय के साथ यह उल्लेख मात्र रहे कि अनुसधाता उस विषय के अनुसधान को क्यो महत्त्वपूर्ण मानता है, और क्यो उसमें प्रवृत्त होना चाहता है। यदि इतने से ही सतोष नहीं हो तो, विषय के साथ अनुसधान की योजना (Scheme) ही मांगी जानी चाहिये।

अनुसंधान योजना—

अनुसधान की योजना में केवल उन मार्गों (Steps) का ही उल्लेख होना चाहिये जिनके द्वारा अनुसधान किया जायगा। उदाहरणार्थ "खुमाणरासो का अनुसधान"।

१ खुमाणरासो की एक प्रति मिलती है। अन्यप्रतियों की भी खोज की जायगी।

२ (अ) प्राप्त प्रतियों के आधार पर पाठशोधन (Textual Criticism) के विज्ञान के अनुसार पाठानुसंधान पूर्वक आदर्श पाठ प्रस्तुत करना। इस की भूमिका में इस रासो विषयक संशोधन की समस्याओं पर सोदाहरण सप्रमाण प्रकाश डाला जायेगा।

(आ) खुमाण रासो के काल निर्णय के उपरांत उस काल की उसी क्षेत्र की और उसी भाषा की अन्य कृतियों को भी रासो की भाषा से तुलना करने के लिए अध्ययन किया जायगा। जिससे तत्कालीन भाषा की प्रगति से रासो का सामञ्जस्य स्थापित किया जा सके।

३ इसके अनंतर इस रासो का आंतरिक अध्ययन किया जायगा। रासोकार के जीवन की सामग्री भी खोजी जायगी उसकी अन्य कृतियों का भी पता लगाया जायगा और यदि मिलेंगी तो इस रासो के साथ उनके कवित्व का भी स्वरूप प्रस्तुत किया जायगा। आदि

किन्तु यदि यही अभीष्ट हो कि पूरी रूपरेखा ही प्रस्तुत की जाय तो विश्वविद्यालयों को अपने नियमों में यह धारा बढ़ानी चाहिये कि पहले विषय स्वीकृत होगा तदनुसार ६ महीने के अन्दर अनुसंधाता को अपनी रूप-रेखा प्रस्तुत करनी होगी। उसके स्वीकार हो जाने पर अनुसंधाता अपना अनुसंधान आगे बढ़ायेगा।

सबसे अधिक समीचीन तो यही प्रतीत होता है कि केवल विषय मात्र ही स्वीकार किया जाय।

रूपरेखा के संबंध में मैंने अपना अभिमत प्रेषित कर दिया है। अब मैं आप सब को धन्यवाद देता हुआ अपना आज का भाषण समाप्त करता हूँ।

अनुसधान-विवरण

श्री राधेश्याम त्रिपाठी

"डिंगल का गद्य-साहित्य"

डिंगल राजस्थान की साहित्यिक भापा है, विशेषकर आधुनिक-युग में डिंगल को कविता की एक शैली के रूप में समझा जाता है। वर्तमान में डिंगल कविता का एक रूढ-स्वरूप हमारे सामने उपस्थित है तदापि प्राचीन राजस्थानी में डिंगल की रूपात्मक एव ध्वन्यात्मक विशेषतायें परिलक्षित है। विद्वानो ने डिंगल को प्राचीन राजस्थानी का सुसस्कृत, परिमार्जित एव साहित्यक रूप माना है।

आरम्भ में साधारण राजस्थानी और डिंगल में कोई अन्तर न रहा हो, परन्तु बाद में डिंगल स्थिर हो गई हो। कविगण जानबूझ कर द्वितवर्ण वाले शब्दो का प्रयोग किया करते थे और इसी प्रकार साधारण शब्दो को भी तोडा-मरोडा जाने लगा, साथ ही उनके "कुछ विशेप शब्द" आकार-प्रकार में वध गये जिनका प्रयोग निरतर किया जाने लगा। परन्तु साधारण वोलचाल की राजस्थानी में ऐसे शब्दो का कोई प्रचुर प्रयोग नही होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि डिंगल साधारण जनता की वोध-सीमा के वाहर हो गई तथा एक विशिष्ट वर्ग (कवियो की) की ही भापा-मात्र वन गई।

विक्रम की १६वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक न्यूनाधिक रूप से राजस्थानी का प्रयोग गुजरात, मध्यप्रदेश व राजस्थान के भागो में सर्वत्र होता था, परन्तु १६वी शताब्दी से इन प्रदेशो के राजनैतिक सीमा-रेखाओ में वध जाने पर उसके रूप मे प्रान्तीय प्रभाव लक्षित होने लगा और भिन्न प्रवृत्तिया स्पष्ट होने लगी। विक्रम की १७वी शताब्दी से जव राजस्थानी-साहित्य को लिपिवद्ध किया जाने लगा तो वह साधारणत वोलचाल की राजस्थानी भापा में ही हुआ, फिर भी उसमें परम्परागत डिंगल सवधी शब्दो को देखा जा सकता है। इम प्रकार साहित्य के विभिन्न अगो की रचना इसमें हुई और प्रचुर मात्रा में हुई, जिसमें गद्य-साहित्य का विशिप्ट एव महत्वपूर्ण स्थान है।

राजस्थान में रचित गद्य-साहित्य को राजस्थान के आधुनिक विद्वान राजस्थानी-भापा की ही रचना मानते हैं, डिंगल की नही—क्योकि वह साहित्य उस युग की जन-वाणी में लिखा गया था, द्वितवर्ण वाले शब्दो से युक्त डिंगल में नही? गद्य सवधी साहित्य जिसे राजस्थानी भापा में लिखा माना जाता है ख्यात, वात, वचनिका, विगत,

ख्यातें वंशावली पीढ़ियां पट्टेपरवाने आदि के रूप में उपलब्ध हैं। इस गद्य की सम्पूर्ण सामग्री राजस्थान के विविध राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से कई चारण भाटों एवं रावों के पास यह सामग्री खोजी जा सकती है। राजस्थानी गद्य सम्बन्धी जो सामग्री अभी तक प्रकाश में आई है वह सब राजकीय पुस्तकालयों में प्राप्य है। डा. टेसीटोरी एवं पं. हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी रिपोर्ट में गद्य संबंधी सामग्री की खोजपरक जानकारी दी है, पर वह विवरण पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

डिंगल का गद्य-साहित्य विश्वविद्यालय की 'अनुसंधान समिति' के द्वारा जब स्वीकार कर लिया गया तब सर्व प्रथम मेरी यह धारणा बनी कि तत्संबंधी सामग्री जिन जिन राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित है उसकी एक विस्तृत सूची बना ली जाय तथा यदि समय हो सके तो उनका प्रारम्भिक अवलोकन-अध्ययन कार्य भी किया जाय। सर्व प्रथम इसी ओर मेरा ध्यान केन्द्रित हुआ क्योंकि गद्य संबंधी सामग्री अधिकांशतः इन राजकीय पुस्तकालयों में हस्तलिखित ग्रंथों के रूप में विद्यमान है, जिनके अध्ययन के लिये विशेष समय एवं सुविधा अपेक्षित है। विशेषकर इनके अध्ययन के लिये उन्हीं स्थानों पर जाकर अध्ययन किया जायेगा क्योंकि इन ग्रन्थों को पुस्तकालय-कक्ष से बाहर ले जाने की अनुमति मिलना असम्भव है। केवल बीकानेर के 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय' में यह सुविधा प्राप्त है जिसके अनुसार इनकी सुरक्षा का एक विशेष स्टाम्पपत्र भरना पड़ता है तथा एक समय में एक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त किया जा सकता है।

सर्व प्रथम ११ अप्रैल सन् १९५८ को मैं अजमेर से कोटा बूंदी झालावाड़ आदि स्थानों की ओर गया तथा ता. १६ अप्रैल को पुनः अजमेर लौट आया। यह कार्य क्रम केवल ६ दिवसों का ही रहा कारण कि इधर गद्य संबंधी सामग्री उपलब्ध नहीं हुई। कोटा के राजकीय पुस्तकालय में कुछ राजस्थानी में किए गये अनुवाद प्राप्त हुए जो १७वीं शताब्दी के पश्चात् के हैं। कोटा के एक जैन उपासरे में जैन विद्वानों की कुछ रचनायें पद्य में लिखी हुई हैं जो धार्मिक उपदेशपरक हैं। इसके अतिरिक्त कोटा में और कोई सामग्री उपलब्ध नहीं हुई और न ही अन्य स्थानों पर प्राप्त हो सकी।

राजस्थानी गद्य सम्बन्धी सामग्री मुख्यतया वार्तायें ख्यातें वंशावली आदि जयपुर के पुरातत्त्व-मंदिर जोधपुर के उम्मेद भवन के 'पुस्तक प्रकाश' पुस्तकालय उदयपुर के राजकीय पुस्तकालय-सरस्वतीभवन तथा बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय-अभय जैन ग्रन्थालय तथा अन्य जैन उपासरों में विविध रूप से सुरक्षित है। ग्रीष्मावकाश के के आरम्भ होने के साथ ही मैंने इन चार प्रमुख स्थानों (जयपुर, जोधपुर उदयपुर और बीकानेर) की ओर जाने का निश्चय किया। जैसलमेर के राजकीय पुस्तकालय में गद्य संबंधी सामग्री उपलब्ध है, ऐसा जानकर सुना से विदित हुआ। जैसलमेर की ओर इस भीषण गर्मी में जाना मैंने स्थगित किया और वहां वर्षाकाल के पश्चात् ही जाना ठीक समझा।

जिन चार स्थानों की ओर मैं गया उनका विवरण संक्षेप में इस प्रकार है —

जोधपुर

ता० १३ मई ५८ को अजमेर से प्रस्थान कर १४ मई को प्रात ८-३० पर जोधपुर पहुँच गया।

ता० १४ मई को प्रातःकाल ११ बजे "सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी" जाकर वहाँ के पुस्तकाध्यक्ष श्री बी० एन शर्मा से सम्पर्क स्थापित किया व उनसे विषय-सबधी चर्चा की। "सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी" में "मुहणोत नैणसी रीख्यात दो भाग" तथा "मारवाड रीख्यात" की हस्तलिखित प्रतिया देखने को मिली। लिपिकार ने दोनो प्रतियो में अपना नाम व लिपिकाल का उल्लेख नही किया है। इन दोनो प्रतियो को देखने पर अनुमान लगाया गया कि इनका लिपिकाल १६वी शताब्दी के आस पास रहा होगा। "मारवाड की ख्यात" में मारवाड के राठौर राजवशो से सबधित फुटकर वार्तायें लिपिबद्ध है। पश्चात श्री शर्मा के साथ वहा पर स्थित म्यूजियम गया तथा अध्यक्ष महोदय से भेंट की।

श्री वी० ए० शर्मा से विदित हुआ कि जोधपुर नरेशो का निजी पुस्तकालय जो "पुस्तक-प्रकाश" के नाम से विख्यात है आजकल "उम्मेद-भवन" (छीतर पेलेस) में सुरक्षित रखा हुआ है। वहाँ के ग्रन्थो का अध्ययन करने के लिये "पेलेस" के ऐडमिनिस्ट्रेटर महोदय से अनुमति लेना आवश्यक है, "पेलेस" नगर से तीन मील की दूरी पर है। अतएव श्री शर्मा के साथ जीप का प्रवन्ध करके हम "पेलेस" पहुँचे। वहा पहुँचने पर हैड क्लर्क से ज्ञात हुआ कि ऐडमिनिस्ट्रेटर महोदय अपना कार्य करके जा चुके है। उनका कार्य-काल १०-३० से मध्याह्न १-३० तक का है। हैड क्लर्क महोदय श्री तपसीलाल से ज्ञात हुआ कि गद्य सबधी सामग्री पर्याप्त मात्रा में यहा पर उपलब्ध है। उन्होने हमें 'पेलेस' दिखाने का प्रवन्ध किया। बातचीत के अन्तर्गत काफी बातो की जानकारी हासिल हुई।

ता० १५ मई को लगभग १२ बजे मैं 'पेलेस' पहुच गया तथा ऐडमिनिस्ट्रेटर महोदय से भेंट की तथा अपने अनुसधान सबधी कार्य से उनको अवगत कराया एव लिखित रूप में 'पेलेस' के हस्तलिखित ग्रन्थो के अध्ययन एव नोट्स आदि लेने की अनुमति पाई। श्री ऐडमिनिस्ट्रेटर महोदय ने सहर्ष स्वीकृति प्रदान की तथा स्वीकृति-पत्र पर पुस्तकाध्यक्ष को नोट् लिख कर दिया कि जिससे वे मुझको सर्व सुविधा प्रदान कर सकें। पुस्तकाध्यक्ष श्री मोतीलाल गुटू से मिला, उन्होने मुझे हस्तलिखित ग्रन्थो का सूची-रजिस्टर दिया। रजिस्टर के अनुसार मैंने अपने विषय सबधी पुस्तको की सूची बनाई जिसके अनुसार ८० वार्तायें, २ ख्यात, ३ वशावली, १ वचनिका तथा १ विगप्त है। 'पेलेस' के आफिसर इचार्ज बाहर थे अतएव ग्रन्थालय नही खोला जा सका।

ता० १६ मई को प्रात ११ बजे 'पेलेस' पहुँचने पर पुस्तकाध्यक्ष श्री गुटू के साथ 'पेलेस' के आफीसर इचार्ज श्री चन्द्रसिह से भेंट की तथा उनको ऐडमिनिस्ट्रेटर महोदय का अनुमति-पत्र दिया। श्री चन्द्रसिह ने दो सिपाही तथा एक गार्ड को बुलाया तथा हम सब 'पेलेस' के भीतरी भाग में प्रविष्ट हुये। एक विशेष कक्ष मे सुरक्षित रखी "पुस्तकालय-कक्ष" की कुजी श्री चन्द्रसिह ने निकाली और उसमे पुस्तकालय कक्ष का

द्वार खोला। कक्ष में लगभग २०–२२ अलमारियाँ है जिनमें संस्कृत वेद पुराण उपनिषद्, तंत्र योग ज्योतिष तथा राजस्थानी के हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत रामायण तथा महाभारत के शीर्षाकार चित्र हैं जिनमें कथात्मक भावों का तूलिका से सुन्दर रूप-वैभव अंकित किया गया है।

'पेलेस' के 'पुस्तक-प्रकाश' पुस्तकालय में ता १९ १७ १८ २ २२ २३ २४ मई तक मैंने कार्य किया। १८ मई रविवार, तथा २१ मई को प्रतापजयन्ती के कारण *पुस्तकालय का अवकाश-दिवस था। इस कार्य-काल में मैंने २१ वार्ताओं को देखा* उनके प्रारम्भिक मध्य और अंतिम अंशों को नोट कर लिया। ख्यातों में केवल 'तख्तसिंहजी री ख्यात' ही देख पाया। अन्य ख्यातें खोजने पर भी नहीं प्राप्त हो सकी जब कि सूची-पत्र में उनका संकेत है। तख्तसिंहजी री ख्यात' अपूर्ण है।

अध्ययन क्रम के अतिरिक्त ता १८ वा २१ मई को मने निम्न विद्वानों से सम्पर्क स्थापित किया तथा विषय सम्बन्धी चर्चायें की —

(१) श्री प नित्यानंद शर्मा शास्त्री रिटायर्ड पुस्तकाध्यक्ष 'पुस्तक-प्रकाश' पुस्तकालय। इनसे ज्ञात हुआ कि पुस्तक-प्रकाश में जो गद्य सम्बन्धी रचनायें हैं वे अधिकांश तथा १८वीं शताब्दी के पश्चात् की हैं। और कुछ रचनाओं की अतिरिक्त नकल करवाई गई है तथा कुछ चारण भाटों से क्रय की गई है।

(२) श्री नारायणसिंह भाटी—संपादक— 'परम्परा' चौपासनी शोध संस्थान जोधपुर। श्री भाटी ने 'परम्परा' त्रैमासिक पत्रिका के अंक दिखलाये। यह पत्रिका 'राजस्थानी-साहित्य' के एक मुख्य विषय को लेकर प्रकाशित होती है। पत्रिका का विशेषांक राजस्थानी वार्ता साहित्य' प्रकाशित होने वाला है। उनके द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि शोध-संस्थान में दो ख्यातें तथा फुटकर वार्तायें उपलब्ध हैं। श्री भाटी ने मेरे विषय की सराहना करते हुये कहा कि यह विषय विस्तृत तो अवश्य है लेकिन इस विषय पर शोध की भारी आवश्यकता है। श्री भाटी ने एक सुझाव यह भी दिया कि गद्य-साहित्य के अध्ययन मे वार्ता साहित्य पर विशेष और विस्तृत अध्ययन भी किया जाना चाहिए।

(३) श्री सीताराम लालस—राजस्थानी भाषा के अन्वेषक विद्वान हैं। राजस्थानी व्याकरण नामक अपनी पुस्तक में राजस्थानी भाषा का सरल व सुबोध व्याकरण प्रस्तुत किया है। इस समय श्री लालस राजस्थानी शब्द-कोष तैयार कर रहे हैं। उन्होंने शब्द कोष का कार्य मुझे दिखलाया। उनके संग्रह में गद्य संबंधी पर्याप्त सामग्री है। जोधपुर में केवल एक बही उनके पास है जिसमें लगभग १ से ऊपर वार्तायें लिपिबद्ध हैं। इस बही में कुछ मुगल बादशाहों की तथा अन्य क्षत्रिय नरेशों की वंशकुण्डलियाँ भी बनी हुई हैं। इसके अतिरिक्त उनके अपने गाव के निजी संग्रहालय म राजस्थान के अन्यान्य राजघरानो एव राज्यों के सबध में 'बात—साहित्य' है। श्री लालस ने भविष्य में पर्याप्त सहयोग देने का मुझे आश्वासन दिया।

'पेलेस के आफीसर इन्चार्ज श्री चन्दसिंह से ज्ञात हुआ कि जोधपुर से ४ मील दूर 'चौपासनी' नामक स्थान पर 'माई जी देवी' का मंदिर है। मंदिर का एक निजी

पुस्तकालय है । उसके संरक्षक मंदिर के पुजारी हैं जो दीवान जी कहलाते हैं । उसमें योग और तंत्र के ग्रन्थों के अतिरिक्त महाराणा प्रताप एवं राठौर वीर दुर्गादास के १६ पत्र सुरक्षित रखे हैं । परन्तु उनके देखने व अध्ययन के लिए दीवान जी से आज्ञा लेनी पड़ती है । सूत्रों से ज्ञात हुआ कि दीवान जी उस समय 'चौलाडा' में उपस्थित नहीं थे । साथ ही चन्द्रसिंह जी से यह भी मालूम हुआ कि मंडावा (शेखावाटी) के कुंवर श्री देवीसिंह के पास पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है ।

इस प्रकार जोधपुर का अपना कार्य समाप्त करके मैंने ता० २५ मई को उदयपुर के लिए प्रस्थान किया ।

उदयपुर

ता० १६ मई को प्रातः काल ६ बजे उदयपुर पहुँचा । उसी दिन राजस्थान साहित्य-संस्थान के कार्य वाहक मंत्री जी से मिला और उनसे मैंने अपने विषय की चर्चा की । उन्होंने दूसरे दिन आने के लिए कहा, क्योंकि इस समय कविराज श्री मोहनसिंह जी उपस्थित नहीं थे । तत्पश्चात् मैं पार्क के पुस्तकालय पहुँचा । वहाँ श्री डा० मोतीलाल मेनारिया से भेंट हुई । श्री मेनारिया ने मुझे परामर्श दिया कि विषय के नाम में परिवर्तन कर 'डिंगल गद्य-साहित्य' के स्थान पर 'राजस्थानी गद्य-साहित्य' रखा जाय और साथ ही यह भी सुझाव दिया कि इस विषय के लिए राजस्थान का ही कोई विद्वान् निर्देशक हो तो अच्छा, क्योंकि यह बड़ा उलझनमय और विस्तृत विषय है । मैंने उन्हें इस सुझाव के लिए धन्यवाद दिया । डिंगल और राजस्थानी के अन्तर के संबंध में हमारी वार्त्ता काफी विशद् रही । उनका कथन यही था कि डिंगल का नाम बहुत पश्चात् का है और डिंगल केवल कवियों के प्रयोग की एक भाषा अथवा शैली मात्र है । तत्पश्चात् मैंने राजकीय पुस्तकालय 'सरस्वती भवन' में सुरक्षित ग्रन्थों के अवलोकन-अध्ययन की इच्छा व्यक्त की । श्री मेनारिया ने कहा कि इस समय 'सरस्वती भवन' के ग्रन्थों का अध्ययन आदि नहीं किया जा सकता, कारण की गत १ वर्ष ६ माह से मुनि कान्ति सागर पर भवन से कुछ सामग्री गबन किये जाने के परिणाम स्वरूप कोर्ट-केस चल रहा है । इस कारण वहाँ के ग्रन्थ देखना सुलभ नहीं है । यह जानकर मुझे बड़ा दुःख हुआ । खैर मैं उनसे सहयोग का आश्वासन पाकर लौट आया ।

ता० २७ मई को राजस्थान शोध संस्थान के पीठस्थविर तथा राजस्थान साहित्य अकादमी के अध्यक्ष श्री जनार्दनराय नागर से उनके आवासस्थान पर भेंट की । उन्होंने शोध-संस्थान के मन्त्री को इस आशय का पत्र लिख कर दिया कि जिससे मुझे हर प्रकार की सुविधा व सहयोग मिल सके । वहां से मैं शोध-संस्था गया तथा मोहनसिंह कविराज से मिला । उन्होंने एक प्रति मुझे दिखलाई जिसे उदयपुर नरेश ने उन्हें भेंट स्वरूप दी थी । प्रति १८वीं शताब्दी की रचित है तथा उसमें फुटकर ८० वार्त्तायें लिपबद्ध हैं । इसके अतिरिक्त उनके पास से अधिक सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी । मैंने नाथद्वारा और कांकरोली की ओर जाने का निश्चय किया । एक परिचित सज्जन से ज्ञात हुआ था कि इन स्थानों पर भी कुछ सामग्री प्राप्त हो सकती है । अतएव मैं ता० २८ मई को नाथद्वारे और

कांकरोली गया परन्तु निराश ही लौटना पड़ा। वहाँ पर मेरे कार्य की कोई विशेष सामग्री नहीं थी। इन स्थानों पर अधिकांशतया धार्मिक साहित्य विशेषकर ब्रज भाषा में विद्यमान है—अनुवाद के रूप में कुछ रचनायें हैं जो गद्य एवं पद्य दोनों में ही हैं। यह अनुवादित सामग्री लगभग १६वीं शताब्दी की है। अतएव ता १ मई को मैं उदयपुर लौट आया तथा उदयपुर से वापस अजमेर २ जून को पहुँच गया।

जयपुर

६ जून ५८ को मैं जयपुर पहुँचा। ६ १ जून को जयपुर में 'राजस्थान के पुरातत्व मंदिर में' काम किया। वहाँ पर अच्छी सामग्री है। अधिकांश सामग्री वार्ता सम्बन्धी है तथा कुछ वंशावलियाँ विभव व वचनिकायें भी हैं जिनकी संख्या ५४६ है। इनका रचना काल १७ वी शताब्दी से १६ वी शताब्दी तक है। इनके अतिरिक्त विविध विषयों के राजस्थानी ग्रंथ भी उपलब्ध हैं। 'पुरातत्व-मंदिर' से राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग १ २ ३ ४ में से मैंने अपना अलग सूची-पत्र बनाया जिसमें लगभग १२ ग्रंथ मेरे विषय सम्बन्धित हैं जिनका प्राप्ति-स्थान भी अंकित है। इस कार्य में मुझे डा. दशराज उपाध्याय डिप्टी डायरेक्टर तथा अन्य कार्यकर्ताओं का सौहार्द व सहयोग मिला। 'पुरातत्व-मंदिर' से प्रकाशित 'बांकीदास के ख्यात' मैंने क्रय की। 'मुहणोतनैणसी की ख्यात' का संपादन कार्य चल रहा है। यहीं पर एक मित्र से ज्ञात हुआ कि पं. रामकर्ण जी आसोपा ने 'नैणसी की ख्यात' का एक भाग सपादित किया था जो उनके पुत्र के द्वारा प्राप्त हो सकता है। मैंने उनका नाम पता अंकित कर लिया और अजमेर से उनको पत्र दिया है जिसमें 'नैणसी की ख्यात' मुझे मिल सके। वैसे नैणसी की ख्यात का हिन्दी अनुवाद (दो भागों म) काशी नागरी प्रचारिणी सभा से भी प्रकाशित हो चुका है।

११ जून को मैंने मंडोवा कुँवर साहब से सम्पर्क स्थापित किया। क्योंकि वे आजकल जयपुर में ही हैं। मंडोवा के कुंवर सा श्री देवीसिंह जी के यहाँ भाषा में वार्तायें लिपिबद्ध हैं तथा कुछ वचनिकायें भी हैं। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया है कि कुछ समय बाद यह सामग्री मंडोवा से जयपुर मँगवायी जायगी।

जयपुर के नरेश का व्यक्तिगत पुस्तकालय 'पोथी-खाना' के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर भी पर्याप्त सामग्री है। ऐसा जानकर अर्थो से विदित हुआ। परन्तु जयपुर नरेश उस पोथीखाने का दर्शन की अनुमति नहीं देते ऐसा मालूम हुआ। कुछ व्यक्तियों से इस सम्बन्ध में मैंने चर्चा भी की परन्तु उन्होंने विवशता ही व्यक्त की। परन्तु मैं समझता हूँ कि जयपुर नरेश से सम्पर्क स्थापित करने पर संभव है इस समस्या का समाधान निकाला जा सके। इसके अतिरिक्त जयपुर में राजस्थान के जैन ग्रन्थ भंडारों का सूचीपत्र देखने के लिए मैंने सेठ कस्तूरचंद जी कासलीवाल मैनेजर महावीर अतिशय कमेटी भंवरलाल जी पाटणी आदि सज्जनों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु सम्पर्क बना नहीं सका। मैं जब भी उनके आवास पर गया वे अनुपस्थित थे।

१२ जून को भी श्री हरनाम नारायण जी पुरोहित से भेंट की तथा पुरोहित हरनारायण जी के निजी संग्रहालय के सबंध में जानकारी प्राप्त की। उन्होंने पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया। तदनन्तर मैं अजमेर लौट आया।

बीकानेर

१५ जून ५८ को अजमेर से बीकानेर के लिए प्रस्थान किया। १६ जून को प्रात ७ बजे बीकानेर पहुचा। १६ जून को ११ बजे श्री अगरचद जी नाहटा से अभय जैनग्रन्थालय में भेट की तथा उनसे विषय के संबध में चर्चा हुई। श्री नाहटा ने भी यही सुझाव दिया कि 'डिंगल गद्य साहित्य' के बजाय 'राजस्थानी गद्य साहित्य' रखा जाय। तथा विषय के लिए राजस्थानी भाषा-साहित्य के विद्वान को ही निर्देशक बनाया जाय। श्री नाहटा ने श्री नरोतम दास स्वामी से भी सम्पर्क स्थापित करने के लिए कहा है।

१६ जून से ३० जून तक मैं बीकानेर रहा। बीकानेर में लालगढ स्थित 'अनूप सस्कृत लाइब्रेरी' में ता० १८, १९, २०, २४, २५, २६, व २७ तक अध्ययन कार्य किया। ये लालगढ नगर से ४ मील दूर स्थित है जहाँ पर मैं सवेरे ११ बजे पहुँच जाता तथा सायकाल ४ बजे तक ग्रन्थावलोकन करके लौटता। इन दिनो में मैंने मुख्यतया बीकानेर के 'रोठोडो की ख्यात' (दो भागो) का अध्ययन किया। वह ख्यात दयालदास सिढायल द्वारा रचित है। इसमें ब्रह्मा की उत्पत्ति की कथा से लेकर राठौड वश की उत्पत्ति, वहाँ के राजवशो का विवरण तथा प्रमुख घटनाओ का विशद चित्रण किया गया है। इसका रचनाकाल १८ वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इसके अतिरिक्त राठौडो की वशावली, कुछ वार्त्ताओ तथा राजस्थानी अनुवाद आदि को देखा। 'अनूप सस्कृत लाइब्रेरी' के कार्यवाहक मन्त्री श्री बाबूराम जी से ज्ञात हुआ कि वहा के ग्रन्थ 'सुरक्षा-अनुबन्ध' के द्वारा दिये जा सकते हैं। सुरक्षा-अनुवन्ध की मैंने उनसे पूर्ण जानकारी प्राप्त की, जिसके अनुसार मैंने एक स्टाम्प-पत्र पर पाच सौ रुपये का 'सुरक्षा-अनुवध-पत्र' भरा तथा हस्ताक्षर के लिए प्रिंसिपल गवर्नमेंट कालेज, अजमेर को वह फार्म भेज दिया। यह कार्य मैंने ता० २१ जून सम्पन्न किया परन्तु २४ तारीख तक जब प्रिंसिपल महोदय के हस्ताक्षर होकर 'अनुबध-पत्र' मुझे नही मिला तो मैंने ता० २४ व २५ को अजमेर टेलीफोन पर 'अनुवध-पत्र' को शीघ्र भेजने की प्रार्थना की। ता० २७ को वह 'अनुबध-पत्र' प्रिंसिपल महोदय के हस्ताक्षर सहित मुझे प्राप्त हुआ। गवाह के स्थान पर श्री अगरचन्द जी नाहटा के हस्ताक्षर कराकर वह 'अनुबध-पत्र' मैंने श्री बाबूराम शर्मा को दिया। उन्होंने वहा के आफिसर इचार्ज की अनुमति लेकर ग्रन्थ देना स्वीकार कर लिया। सर्व प्रथम 'वार्ता-साहित्य' पर अध्ययन प्रारम्भ करने का विचार करके मैंने वात्त सग्रह की प्रति निकल वाली। राजस्थान का वार्ता-साहित्य भाषा वैज्ञानिक एव साहित्यक दृष्टियो से महत्त्व पूर्ण माना जाता है।

ता० १७, २१, २२, २३, के दिनो में श्री अगरचन्द जी नाहटा के सग्रहलय में ग्रन्थावलोकन करता रहा। इन्ही दिनो समय निकाल कर मैंने श्री नरोतराम दास स्वामी से भी भेंट की। श्री स्वामी जी ने भी विषय और निर्देशक के सम्बन्ध में वही बात कही जो श्री नाहटा जी ने कही थी। साथ ही स्वामी जी ने निर्देशक के लिए श्री अगरचद नाहटा का नाम प्रस्तावित किया तथा यह कहा कि विद्यापीठ के डाइरेक्टर महोदय को आप अपनी रिपोर्ट में यह सुझाव दें कि वे श्री नाहटा का नाम निर्देशक के लिए स्वीकर कर लेवें। साथ ही श्री नाहटा से भी इस विषय पर चर्चा कर ली जाय तो उचित रहेगा।

श्री स्वामी जी के निर्देशक श्री शिवस्वरूप शर्मा ने राजस्थानी गद्य के उद्भव-विकास पर शोध प्रबन्ध लिखा है। विषय अवलोकन करने से प्रतीत हुआ कि यह शोध प्रबन्ध विवरणात्मक अधिक है आलोचनात्मक दृष्टि से इसमें कम ही विचार किया गया है। इस प्रबंध में अधिकांशतया जैन विद्वानों की रचनाओं का उल्लेख अधिक है। ख्यातों तथा वार्ताओं पर विशद रूप से विचार नहीं किया गया है। हाँ प्रमुख ख्यातों का परिचय इसमें अवश्य है। मेरे विषय की जो रूपरेखा और सीमायें हैं उससे इस प्रबन्ध का विशेष सान्निध्य नहीं है। यह प्रबन्ध तो केवल गद्य के इतिहास का विवरणात्मक अध्ययन भर प्रस्तुत करता है।

श्री नाहटा जी के 'अभय जैन ग्रन्थालय' में ख्यातें आदि नहीं हैं कुछ वार्तायें फुटकर गुटकों में हैं। अधिकांश सामग्री जैन विद्वानों की है जिनमें कई एक जैन गद्य लेखक भी हैं। श्री अगरचन्द नाहटा ने यह सुझाव दिया कि गुजरात के विद्वानों से भी सम्पर्क स्थापित करके इधर की सामग्री के बारे में जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। मुख्यतया ये विद्वान हैं—डा० भोगी लाल सांडेसरा बड़ौदा विश्वविद्यालय बड़ौदा श्री केशवलाल शास्त्री गुजरात विद्यासभा मा० डा० हरि वल्लभ भयाणी भारतीय विद्याभवन चौपाटी बम्बई श्री मंजुलाल मजूमदार चैतन्य धाम प्रतापगंज बड़ौदा। साथ ही श्री नाहटा जी ने इन पुस्तकों के अध्ययन पर भी जोर दिया—गुजराती साहित्य-मध्यकालना साहित्य-प्रवाह, वर्णक समुच्चय पश्चिमतक बालबोध उपदेशमाला जैन गुर्जर संग्रह, (भाग १ से ४) जैन साहित्य का इतिहास तथा गुजराती गद्य सन्दर्भ आदि। श्री नाहटा जी ने टैसीटोरी के शोध कार्य का भी अध्ययन करने को कहा विशेषकर उन कैटलोग का जो राजस्थान के ऐतिहासिक हस्तलिखित ग्रन्थों के परिचय विषय पर प्रकाशित हुए हैं। श्री नाहटा जी ने इन विद्वानों से भी सम्पर्क बनाने को कहा—श्री उदय राज उज्ज्वल ईसरदान जी नाथूराम जी व्यास सत्यदेव जी प्राध्‍, रविशंकर देराश्री विजय करण जी भादा आसकरणदोसी तथा राम-शिवनाथसिंह आदि जिनके द्वारा गद्य संबंधी सामग्री का परिचय मिल सकता है जो राजकीय पुस्तकालयों में उपलब्ध नहीं है तथा जो केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति रूप हैं। मैंने इन सब सज्जनों का पता नोट कर लिया है तथा अब उनसे पत्र व्यवहार प्रारम्भ कर रहा हूँ। आवश्यकता होने पर उन स्थानों पर जाकर उनसे व्यक्तिगत सम्पर्क भी स्थापित करने का प्रयत्न करूंगा।

श्री नाहटा जी से हुई चर्चाओं के फल-स्वरूप अपने विषय को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है—

१ भाषा विकास की दृष्टि से राजस्थानी गद्य का ऐतिहासिक स्वरूप विकास

२ गद्य की ऐतिहासिकता। इसके अन्तर्गत ख्यात वंशावली विगत पीढ़ियाँ वचनिकायें पट्टे परवाने आदि ऐतिहासिक सामग्री का विवेचनात्मक अध्ययन होगा।

३ साहित्यिक गद्य-वार्तायें।

४ टीकायें उल्थे व बालावबोध।

५ गद्य का तुलनात्मक अध्ययन (राजस्थान की भिन्न-भिन्न बोलियों के आधार पर तथा गुजराती मालवी आदि गद्य को दृष्टि-पथ में रखते हुए।)

श्री नरोतराम दास स्वामी के कथन के आधार पर निर्देशक के लिए मैंने श्री अगरचन्द जी नाहटा से चर्चा की। चर्चा का निष्कर्ष यह निकला कि यदि विद्यापीठ स्वीकार कर लेता है तो उन्हें कोई आपत्ति नही होगी। श्री नाहटा राजस्थानी भाषा व साहित्य के विशेषज्ञ हैं और उनके सहयोग से इस विषय का कार्य भी सुगमता से सम्पन्न हो सकता है।

सीकर

ता० २८ जून को प्रात ७-३० पर मैं सीकर पहुँचा। सीकर में २८, २९, व ३० तारीख तक रहा। सीकर में प० शिवनारायण जी आचार्य भू० पू० मन्त्री जागीरदार कमेटी का पूर्ण सहयोग मुझे प्राप्त हुआ। सीकर के गढ में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में लगभग १०० पृष्ठों की एक हस्तलिखित प्रति देखने को मिली जिसमें सेखावतो की वशावली तथा पीढियाँ हैं जो कि पुरोहितो के द्वारा लिखी गई हैं। तीन चार लिपिकारो की लेखनी से यह प्रति सुशोभित है, जिसमें श्री माधवसिंह जी तक का वर्णन है। सीकर के पुरोहितो की परम्परा से यह लिपिवद्ध होती आई है। ऐसा वहाँ पर सज्जनो से चर्चा करने पर विदित हुआ। इसके अतिरिक्त रजिस्टर रूप में सेखावतो की वशावली की एक अन्य प्रति भी देखने को मिली जिसमें कुशवाहा वश का उल्लेख तथा सीकर वसाने आदि के वर्णन से प्रारम्भ होकर वहाँ के राजाओ के कार्य काल का भी वर्णन है। इसका लिपिकाल स० १९४५ है। इसमें मुख्य रूप से खिजडी राज्य का हाल विस्तृत रूप से दिया गया है। सीकर के इतिहास को वहाँ के पुस्तकालय में जाकर देखा। पुस्तकालय में 'वीर-विनोद' के २० भाग भी रखे हुए हैं जिनमें गद्य के अनेक रूपो का परिचय मिलता है। साथ ही इसमें प्राचीन राजा महाराजाओ के पत्रादि की नकलें भी हैं। सीकर के जैन दिगम्बर मन्दिर का ग्रन्थालय भी देखा परन्तु कुछ सामग्री नही मिल सकी। हा १८ वी शताब्दी में रचित जैन विद्वानो का धार्मिक गद्य वहाँ पर अवश्य उपलब्ध है।

इस प्रकार राजस्थान के इन विभिन्न भू-भागो की ओर भ्रमण करने पर प्रतीत हुआ कि गद्य सबधी सामग्री पर्याप्त भाषा में उपलब्ध है। राजकीय पुस्तकालयो के अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से भी सम्पर्क तथा परिचय प्राप्त करने पर अप्रकाशित ग्रन्थो का ज्ञान किया जा सकता है जिसकी जानकारी अभी तक साहित्य-ससार को प्राप्त नही है।

मेरे विषय की वह अध्ययन सबधी सबसे बडी कठिनाई यह है कि सब ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में हैं तथा राजस्थान के सम्पूर्ण भागो में वह साहित्य यत्र-तत्र बिखरा हुआ पडा है। इसके लिए अधिक से अधिक समय की आवश्यकता है। फिर भी मेरा प्रयत्न यही रहेगा कि मैं अधिक समय निकाल कर इस कार्य में जुट सकूँ।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ स०	पक्ति स०	अशुद्ध	शुद्ध
		अनुसंधान के सामान्य तत्त्व	
२५	१८	अनुसधितनु	अनुसधित्सु
७३	११	कैटेला-गस कैटैलोग	कैटॉलॉगस कैटलगोरम'
७४	४	आर्कलीजो	आर्काइव्ज
		पुस्तकाध्ययन तथा सामग्री निबधन	
८३	४	thorough	पूर्ण
८३	१०	accuracy	शुद्धता
८३	१५	clean slate	नए सिरे
८३	२०	out of date	वहुत पुराने
८५	११	Bıblıography cards	पुस्तक सूची कार्ड्स
८६	४	cf (data)	cf, confer. (date)
८६	५	cp Sıc	cp , compare Sıc wrongly
८६	६	qv	q v quodvıde "whıch see"
८६	७	lc, loc cıt	l c , loc cıt
८६	१०	opcıt (=the work cıted)	op cıt , (=ın the work cıted) opere cıtato
८६	११	Ibıd Source	Ibıd, . source
८६	१२	Supra	Supra, see above
८६	१३	Infra	Infra, see below
८६	१८	Encyclopedıa	विश्वकोष
८६	२०	Bıblıography cards	(Bıblıography cards)
८७	१२	प्रकाशके	प्रकाशक
८७	१५	पश्चत्ा	पश्चात्
८९	२	file	फाइल
८९	४	Rıng Fıle	(Rıng Fıle)
८९	४	file	फाइल
८९	७	Index cards	क्रम सूचक कार्ड

पृष्ठ सं	पंक्ति सं	अशुद्ध	शुद्ध
८९	७	करमे	करमे
८९	११	Notes	टिप्पणी
९	४	Paraphrase Type	भावानुवादात्मक
९	६	Summary Notes	(Summary Notes)
९	७	उद्धरणोद्धरण Quotation Notes	उद्धरणोद्धरण (Quotation Notes)
९	९	Suggestive Notes	(Suggestive Notes)
९	१७	loose sheets	पन्नो
९	१८	Notes-Sheets या notes-cards	नोट-शीट या नोट-कार्ड
९	१९	Size	आकार के
११	४	Double checkimg	Double checking
११	४	Bibliography cards	पुस्तक सूची कार्डों
११	५	code	चिह्न
११	९	loose leaves	अलग अलग पन्नों
११	११	loose	खुले
११	११	अच्छा	अच्छा
११	११	punched file	छेद वाली फाइल
११	१२	clip file	क्लिप वाली फाइल
११	१४	clip	(clip)
११	१६	punched file cover	छेद किये हुए फाइल-कवर
११	१८	indexing	क्रम सूचक कार्य
१२	९	(१—२—९)	(१ २ ९)
१२	६	९	८
१२	८	सूक्ष्म	सूक्ष्म
१२	८	जाएगा।	जाएँगे।
१२	९	Filing	फाइलिंग
१२	११	संकेतों—डाल दीजिए।	संकेतों—(खाली स्थान) डाल दीजिए।
१२	११	ही	ही
१२	११	General या miscellaneous	सामान्य या विविध
१२	१५	Filing Indexes	फाइलों के क्रम-सूचक
१२	१७	file	फाइल
१२	१७	index	क्रमसूचकों

पृष्ठ स०	पक्ति स	अशुद्ध	शुद्ध
६२	१७	foolscap	फ़ुल स्केप
६२	१६	Bibliography cards	पुस्तक सूची कार्डों
६२	२२	की Sheet	के पृष्ठ
६२	२३	Section	वर्ग
६२	२४	Notes बनेंगे।	टिप्पणी बनेंगी
६२	२४	Bibliography card	पुस्तक सूची कार्ड
६२	२६	पष्ठो	पृष्ठो

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ के प्रकाशन

"भारतीय साहित्य ।" त्रैमासिक मुखपत्र । वर्पभर मे ८०० पृष्ठों की गवेषणापूर्ण सामग्री । वार्पिक मूल्य—१२, रु० । एक प्रति—५, रु० । वर्ष भर के सजिल्द अक १८, रु०, अजिल्द—१६, रु० । जनवरी १९५६ से प्रारम्भ ।

"ग्रथ-वीथिका ।" अलभ्य एव अप्रकाशित हस्तलिखित तथा अप्राप्य मुद्रित ग्रथो का सग्रह । १९५६ के अक मे नौ ग्रथ है और १९५७ के अक मे ग्यारह ग्रथ हैं । मूल्य—१०, रु० ।

"हिन्दी धातु सग्रह ।" प्रसिद्ध भापातत्त्ववेत्ता हार्नले के निबन्ध का हिन्दी रूपान्तर । मूल्य—२, रु० ।

"जाहरपीर गुरुगुग्गा ।" स०—डॉ० सत्येन्द्र । जाहरपीर का लोक गीत तथा उसकी गवेषणापूर्ण विवेचना । मूल्य—३ ५०, रु० ।

"भारतीय ऐतिहासिक उपन्यास ।" प्रमुख भारतीय भापाओ मे ऐतिहासिक उपन्यासो के विकास का अध्ययन । मूल्य—२ ५०, रु० ।

६ "छन्दोहृदयप्रकाश ।" मुरलीधर कविभूषण कृत । स०—डॉ० विश्वनाथ प्रसाद । मूल्य—५, रु० ।

७ "मानस मे उक्ति सौष्ठव" । रामचरित मानस मे उक्तियो के चमत्कार पर सरस भापण । डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र । मूल्य—२५, न० पै० ।

८ "अली आदिलशाह का काव्य-सग्रह ।" स०—श्री श्रीराम शर्मा व श्री मुबारिजुद्दीन रफत । मूल्य—४ ५०, रु० ।

९ "शोला का काव्य-सग्रह ।" (मु० वनवारीलाल शोला) स०—डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ।

प्रेस में

१० लोर कहा ।" (मुल्ला दाऊद) स०—डॉ० माता प्रसाद गुप्त ।

११ "पद्मावत ।" (अलाउल— स०—डॉ सत्येन्द्र नाथ घोषाल ।

१२ "पिंगल-संग्रह ।" मध्यकालीन पिगल-सवधी ग्रथो का सग्रह । स०—डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ।

१३ "नजीर का काव्य-संग्रह ।" स०—डॉ० विश्वनाथ प्रसाद ।

१४ "तुलनात्मक भाषाविज्ञान ।" (भाग १) ले० एफ० एफ० फर्तुगानोव । अनु० डॉ० केसरी नारायण शुक्ल ।

१५ "बगाल की ब्रज-बोली ।" (पद शतक) स०—डॉ० सत्येन्द्र ।

१६ "ब्रज-लोकवार्ता-कोश ।" स०—डॉ० सत्येन्द्र ।

१७ "शशिमाला-कथा ।" (दयाल) स०—श्री उदय शङ्कर शास्त्री ।

प्रकाशन

"अनुसंधान के मूल-तत्त्व।" हिन्दी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रो में संलग्न शोध-छात्रों के लिए अनुसधान विषयक उपयोगिता पूर्ण सामग्री। अनुसधान के सिद्धान्त, पुस्तकालयो का उपयोग, शोध प्रबन्ध की तैयारी हस्तलिखित ग्रन्थों स आवश्यक सामग्री-चयन करने की पद्धति आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रामाणिक लेख तथा हस्तलिखित ग्रन्थों में प्रयुक्त अक्षरों, मात्राओ, अकों के वक्षक-फलक सहित।

मूल्य—२) रु० मात्र।
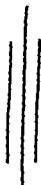
× × × × विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित अली आदिलशाह के काव्य-संग्रह पर प्रसिद्ध भाषातत्त्वविद् श्री सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने यह सम्मति दी है —

× × × × आप और आपके सहयोगी दक्खिनी बोली में प्राचीन हिन्दी-साहित्य की काव्य-निधि को नागरी लिपि में लाकर आधुनिक—भारतीय भाषाओं के अध्येताओं पर अत्यन्त महत्ता के निपुण कार्य को कर रहे हैं। अली आदिलशाह के कुल्लियात का सम्पादन बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है। प्रत्येक कविता के बाद शब्द—टिप्पणी का देना मुझे बहुत ही पसन्द आया।

× × × ×

प्राप्ति स्थान —

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा